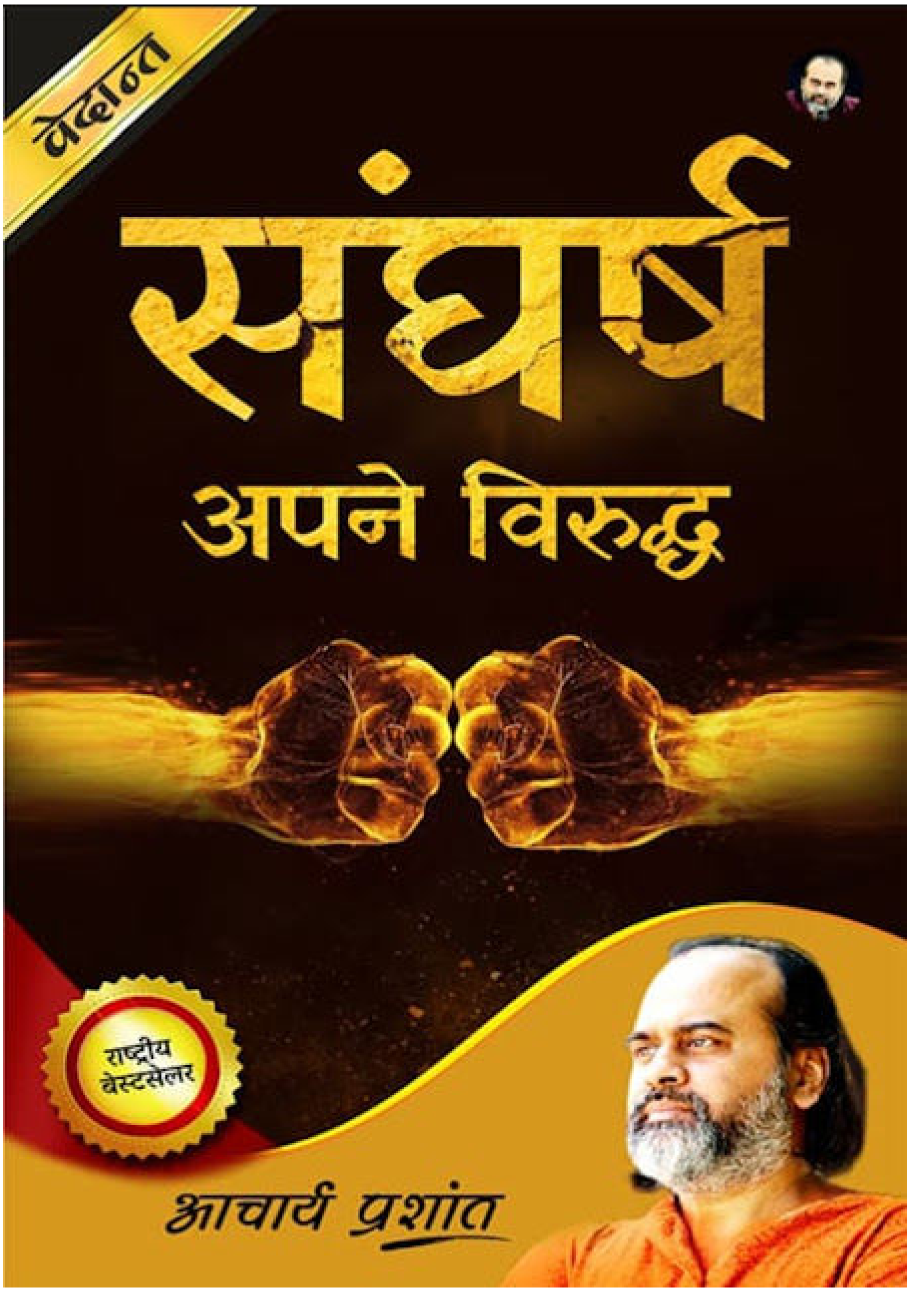


संघर्ष

आचार्य प्रशांत

अनुक्रमणिका

18. कहीं कोई अकेला, और उसकी अकेली लड़ाई

19. मर जाओ, फिर लड़ जाओ

20. शून्यता या संग्राम?

21. जीतू मुर्गे की अमर कहानी

22. असफलता मिले तो न घबराना, न लजाना

✿ ✿ ✿ ✿

दूसरों के ख़िलाफ़ जाना आसान है, अपने ख़िलाफ़ जाना मुश्किल

प्रश्नकर्ता: मेरा कॉलेज में जो अनुभव होता है वो कॉम्पीटिशन (प्रतिस्पर्धा) से, फ़ियर (डर) से और बहुत ज़्यादा प्रेशर (दबाव) से भरा हुआ होता है। इसके विपरीत जो अनुभव आपके वीडियो सुनने का होता है वो बहुत ही ज़्यादा शान्तिपूर्ण होता है। अक्सर मुझे ये विचार आते हैं कि कॉलेज इत्यादि में जो डर है और जो दबाव है उसको छोड़कर मैं पूरी तरह वीडियोज़ को सुनने में या संस्था के कार्य में ही समर्पित हो जाऊँ। क्या ये एस्केप (पलायन) है?

आचार्य प्रशांत: नहीं। ऐसा नहीं है कि संघर्ष या दबाव या भय या प्रतिस्पर्धा सिर्फ़ कॉलेज में या व्यवसाय में या सांसारिक मसलों में ही है। हम आमतौर पर बस ऐसे ही छवि भर बना लेते हैं। हमें लगता है कि एक तो सांसारिक तल है, इसमें बड़ा घर्षण है, बड़ी रस्साकशी है, बड़े संघर्ष हैं, भय का सामना करना पड़ता है, ज़ोर लगाना पड़ता है, मेहनत करनी पड़ती है।

इन सब बातों को हम जोड़ देते हैं बाहर की दुनिया से; चाहे वो कॉलेज की दुनिया हो, चाहे वो नौकरी की दुनिया हो, व्यापार की दुनिया हो। और इसके विपरीत हम छवि बना लेते हैं अध्यात्म की दुनिया की।

वहाँ हम कहते हैं कि बस प्रेम है, समन्वय है, सहिष्णुता है, आनन्द-ही-आनन्द है। तो कई दफ़े अगर बात को ठीक से समझा नहीं है, इन दोनों ही जगतों से पूरा परिचय नहीं है, तो हमें ऐसा लगने लग जाता है कि बाहर की दुनिया को छोड़कर आध्यात्मिक दुनिया में प्रवेश करेंगे तो सब दबाब, तनाव, संघर्ष से निजात मिल जाएगी।

ऐसा बिलकुल नहीं है। दबाव और संघर्ष और श्रम अध्यात्म में भी उतने ही करने पड़ते हैं जितने कि संसार में। बल्कि अगर संसार में तुम थोड़ा सा ही श्रम करके काम चला लेते हो, तो अध्यात्म में तो बहुत सारे श्रम की ज़रूरत पड़ने वाली है। प्रतिस्पर्धा अगर संसार में है तो प्रतिस्पर्धा अध्यात्म में भी है। ये बात तुम्हें थोड़ी सी हो सकता है चौंकाए, लेकिन ऐसा ही है।

बस अन्तर इतना है कि संसार में तुम दूसरे के ख़िलाफ़ प्रतिस्पर्धा करते हो और अध्यात्म में तुम अपने ही ख़िलाफ़ प्रतिस्पर्धा करते हो। संसार में तुम दूसरे के ख़िलाफ़ संघर्ष करते हो और अध्यात्म में तुम्हें अपने ही विरुद्ध संघर्ष करना होता है।

तो बात ये नहीं है कि बाहर की दुनिया में तो बड़ा तनाव और दबाव है और अध्यात्म के जगत में नहीं है। अध्यात्म के जगत में भी है, बस उसकी श्रेणी, उसकी गुणवत्ता अलग है। दबाव तुम बाहर भी झेलते हो और दबाव तुम्हें अध्यात्म में भी झेलना पड़ेगा। पर उस दबाव और इस दबाव की श्रेणी में, गुणवत्ता में अन्तर होता है।

बाहर तुम दबाव झेलते हो कुछ और अतिरिक्त हासिल कर लेने के लिए और अध्यात्म में तुम दबाव झेलते हो क्योंकि तुमने जो कुछ भी व्यर्थ हासिल कर लिया होता है उसे छोड़ना आसान नहीं होता है। तुम उसे छोड़ने की कोशिश कर रहे हो, वो छूटना चाह नहीं रहा है, वो तुम पर दबाव बना रहा है कि मुझे मत छोड़ो। बाहर दबाव रहता है कि मुझे पाओ, मुझे पाओ, मुझे पाओ। और अध्यात्म में वो जिसको तुमने नाहक पा लिया है वो दबाव बनाता है कि मुझे मत छोड़ो। ठीक है?

तो वो सब गुण जो तुमको दुनिया में सफल होने के लिए चाहिए, वो सब गुण तुम्हें अध्यात्म में भी सफल होने के लिए चाहिए। हाँ, अध्यात्म में अगर सफल होना है तो तुम्हें कुछ और, कुछ अतिरिक्त गुण भी चाहिए होंगे।

बाहर सफल होने के लिए तुम्हें सिर्फ़ संघर्ष और श्रम करना पड़ता है और बुद्धि लगानी पड़ती है। भीतर सफल होने के लिए तुम्हारे पास सिर्फ़ संघर्ष और श्रम नहीं चाहिए, विवेक भी चाहिए। पता तो हो तुम किसके ख़िलाफ़ संघर्ष कर

रहे हो। भीतर सफल होने के लिए तुम्हें सिर्फ़ बुद्धि नहीं चाहिए, तुम्हें ये भी पता होना चाहिए कि बुद्धि को संचालित कौन कर रहा है।

तो भीतर की दुनिया, अध्यात्म का जगत कोई आसान नहीं है। ऐसा नहीं है कि बाहर जो हारे हुए लोग होंगे, वो भीतर आकर जीत जाएँगे। बल्कि बाहर की दुनिया में सफल होना तो फिर भी आसान है, भीतर की दुनिया में सफल होना मुश्किल है।

बाहर सफल होने के लिए, मैंने कहा, आपके पास जो-जो योग्यताएँ होनी चाहिए, भीतर सफल होने के लिए वो सब योग्यताएँ तो चाहिए-ही-चाहिए, उन योग्यताओं के अतिरिक्त भी कुछ चाहिए। विवेक चाहिए, अन्तर्दृष्टि चाहिए, स्वयं की ओर देखने वाली आँख चाहिए, अन्तर्गमन चाहिए, चीज़ों को गहराई से समझने की नीयत चाहिए, सच के प्रति निष्ठा चाहिए। तो ये विचार बिलकुल मन से हटा दें कि बाहर नहीं जीत पाये तो भीतर जीत लेंगे।

बाहर लड़ना पड़ता है न दुनिया में? देखो, जिसको देखो वही संघर्षरत है। भीतर और ज़्यादा लड़ना पड़ता है। सच्चा आध्यात्मिक आदमी तो लगातार जूझ रहा होता है। उसके संघर्ष का तो कोई अन्त ही नहीं। क्योंकि उसे किसके ख़िलाफ़ लड़ना है? अपने ही ख़िलाफ़। बाहर तो तुम फिर भी अ-ब-स किसी से लड़ आये, हो सकता है जीत भी जाओ। हो सकता है सिर्फ़ दिनभर उतने ही वक़्त संघर्ष चलता हो जितने समय तुम काम में, दफ़्तर में, कारोबार में हो। अपने ख़िलाफ़ संघर्ष तो दिन के आठ-दस घंटे नहीं चौबीस-के-चौबीस घंटे चलता है।

बात समझ में आ रही है?

तो कमज़ोर लोगों के लिए अगर सफलता की सम्भावना दुनिया में नहीं है, तो आंतरिक जगत में तो बिलकुल ही नहीं है। ये तो फिर भी हो सकता है कि कुछ कमज़ोरियाँ बचाये रखकर के भी तुम दुनिया में सफल हो जाओ। होता है कि नहीं? बहुत लोग होते हैं जिनमें तमाम कमज़ोरियाँ होती हैं, फिर भी दुनिया में हमें सफल दिखायी देते हैं। दुनिया में सफलता का क्या मतलब होता है? अपना नाम बना लिया, पैसा कमा लिया, दस लोगों से सम्मान पा लिया, कोई ऊँची पदवी मिल गयी। यही सब दुनिया में सफलता की निशानियाँ होती हैं।

तो ये तो हो सकता है कि तुममें दस-बीस कमज़ोरियाँ हैं फिर भी तुम्हें दुनिया में सफलता मिल जाए, ऐसा बिलकुल हो सकता है। ऐसा होता ही है। लेकिन दस-बीस छोड़ दो, तुममें अगर अभी एक भी कमज़ोरी बाक़ी है, दुर्बलता ज़रा भी तुममें अभी शेष है तो तुम भीतर के जगत में सफल नहीं हो सकते।

अध्यात्म तो इतनी कड़ी शर्त रखता है। कहता है कि जब तक तुमने अपनी आख़िरी कमज़ोरी भी जीत नहीं ली, मिटा नहीं दी, तब तक तुम विजेता नहीं माने जा सकते। तो अध्यात्म इसीलिए बड़े सूरमाओं के लिए है, बड़े हिम्मतवर

लोगों के लिए है।

तुम कह रहे हो, ‘मेरी वीडियोज़ सुनकर तुम्हें तनाव से शान्ति मिलती है।’ अच्छी बात है। पर अभी तुमने पहला क़दम लिया है। मैं जिस शान्ति की बात करता हूँ, मैं जिस शान्ति की तरफ़ तुमको प्रेरित करता हूँ, वो कोई सस्ती शान्ति नहीं है, बहुत महँगी शान्ति है। वो पाने के लिए बड़े पापड़ बेलने होंगे। उसको पाने के लिए बहुत संघर्षों से गुज़रना होगा।

वो दूर से देखने में हो सकता है तुमको बड़ी सुलभ लगे, बड़ी आकर्षक लगे। पर जैसे-जैसे तुम उसके निकट आओगे, जैसे-जैसे तुम कहोगे कि मुझे ये शान्ति सिर्फ़ स्क्रीन पर नहीं देखनी, सिर्फ़ आचार्य जी के मुँह से नहीं सुननी, मुझे ये शान्ति अपने जीवन में लानी है, तुम पाओगे तुम्हारा रास्ता मुश्किल होता जाएगा।

ये मेरी बातें सिर्फ़ बातें नहीं हैं कि जिनको सुनकर तुम थोड़ी देर के लिए तनावमुक्त हो जाओ, तुम्हें थोड़ी राहत, थोड़ा सुकून मिल जाए। मेरी ये बातें शान्ति से पहले क्रान्ति का आवाहन हैं। ये आंतरिक युद्ध का शंखनाद है। और कोई इन्हें अगर ध्यान से सुनेगा तो उसे क्रान्ति में कूदना ही पड़ेगा। और जब क्रान्ति में कूदोगे तब मैं पूछूँगा कि दुनिया में जितना संघर्ष कर रहे थे, दुनिया में जितनी लड़ाई चल रही थी, अब बताओ बेटा, उससे कम चल रही है कि ज़्यादा चल रही है। और तुम कहोगे, ‘दुनिया में तो कुछ भी नहीं था। अब जो मार-पीट शुरू हुई है, ये तो कई गुना ज़्यादा है।’

दूसरों के ख़िलाफ़ लड़ना कहीं ज़्यादा आसान है अपने ख़िलाफ़ लड़ने से। दूसरों को कुछ सिद्ध कर देना, जता देना, साबित कर देना कहीं ज़्यादा आसान है अपनी ही साक्षी दृष्टि के सामने अपनी सत्यता प्रमाणित करने से। दूसरों को तो बहुत होता है न, कि जता आते हो कि हम बड़े आदमी हैं, हम बड़े सच्चे आदमी हैं, हम बेहतर, बढ़िया आदमी हैं। ये आसान है। ख़ुद को ये प्रमाणित करो तो जानें। अध्यात्म का मतलब है किसी और के सामने कुछ नहीं प्रमाणित करना। तुम अपने निर्णेता स्वयं हो।

साक्षी आत्मा ही न्याय करेगी और वो सब जानती है, सब देख रही है। उससे क्या छुपा है! जब उससे कुछ भी नहीं छुपा तो उससे तुम्हारा छोटे-से-छोटा दोष भी छुपा है क्या? दूसरों के सामने तो अपने दोष छुपा जाओगे, ख़ुद से कैसे छुपाओगे? तो ज़्यादा मुश्किल क्या है — दुनिया के सामने बड़े बन जाना या वास्तव में बड़े हो जाना? बोलो। तो अध्यात्म का ताल्लुक वास्तविकता से है, दुनिया के सामने कुछ सिद्ध करने से नहीं।

इसीलिए तो तुम समझ रहे होगे कि ज़्यादातर लोग अध्यात्म से घबराते क्यों हैं, असली अध्यात्म से। नकली अध्यात्म तो बड़ा आकर्षक होता है, उसकी ओर तो बहुत भाग जाते हैं। असली अध्यात्म से लोग घबराते क्यों हैं? क्योंकि

मुश्किल है, कठिन है, ईमानदार है। वहाँ चोरी नहीं चलती, वहाँ बेईमानी का कोई काम नहीं, वहाँ दिखावे से बात नहीं बनेगी। वहाँ वास्तविकता सामने आती है। है न?

तो जो लोग दुनिया की लड़ाइयों में खप-पच रहे हैं, उनसे मैं कहता हूँ कि भाई लड़ तो रहे ही हो, असली लड़ाई लड़ लो। हाँ, असली लड़ाई थोड़ी और मुश्किल ज़रूर पड़ेगी। पर कम-से-कम तुम्हें उसमें कुछ असली लाभ भी होगा।

नकली लड़ाई लड़ो या झूठी और ओछी लड़ाई लड़ो जिसमें मेहनत तो कम लगे लेकिन हासिल कुछ न हो और समय भी बर्बाद हो जाए, ये बेहतर है या असली लड़ाई लड़ना, जिसमें श्रम ज़्यादा लगेगा, अनुशासन ज़्यादा लगेगा, दर्द भी ज़्यादा होगा, लेकिन जो हासिल होगा वो सच्चा होगा, ये बेहतर है? बोलो।

पाँच रुपये में ज़हर मिल रहा हो और पचास रुपये में अनार का रस, तो अनार का रस ये कहकर ठुकरा दोगे कि महँगा है? भाई वो पाँच ही रुपये का है लेकिन वो तुम्हें बर्बाद कर देगा। बाहर की लड़ाई लड़ने में आसान है, सस्ती है, पाँच रुपये वाली है, लेकिन तुम्हें बर्बाद कर देगी। ज़हर है। उसमें पाँच रुपये भी गँवाओगे और बदले में ज़हर पाओगे। असली लड़ाई महँगी है पर उसमें वास्तविक लाभ होगा।

और तुम ये नहीं कह सकते कि न पाँच, न पचास; हम एक रुपया खर्च नहीं करेंगे। जो कह दे, 'न पाँच न पचास', वो समझ लो पाँच वाले क्षेत्र में ही है। जो भीतर अपने नहीं देख रहा उसे बाहर उलझना ही पड़ेगा। उसके लिए एक विवशता बन जाएगी, अनिवार्यता बन जाएगी। क्यों? क्योंकि अगर तुम भीतर नहीं देख रहे तो आँखें ख़ुद ही लगातार किधर को देख रही हैं? कान ख़ुद ही लगातार किधर को सुन रहे हैं?

तो बाहर वाला काम तो बिना तुम्हारे संकल्प, बिना तुम्हारी इच्छा के भी ख़ुद-ब-ख़ुद चल ही रहा है न। भीतर उतरने के लिए मेहनत करनी पड़ती है। बाहर उतरने के लिए कुछ नहीं करना पड़ता। हमारा जैसा निर्माण हुआ है, हम बाहर के तो हैं ही, बाहर वाला काम तो स्वयमेव चलता है। भीतर वाला काम मेहनत से चलता है। उसके लिए कुछ अतिरिक्त प्रयत्न करना पड़ता है।

बाहर वाला तो चलता ही रहेगा, भीतर वाला काम करो। जब भीतर वाला काम सही चलता है, तो तुम पाते हो कि बाहर वाला काम बहुत आसान हो गया। जो बड़ी लड़ाई लड़ रहा है और बड़ी लड़ाई जीत रहा है उसके लिए अब छोटी लड़ाई कैसी हो जाएगी? बच्चों का खेल। उसको तो बहुत आसानी से जीत लेगा न। भीतर वाली लड़ाई जीत लो, बाहर की सब लड़ाइयाँ तुम पाओगे कि तुम्हारे लिए बहुत आसान हो गयी हैं।

सब नशे, सारी बेहोशी उतर जाएगी

प्रश्नकर्ता: आप कहते हैं कि हम सब एक बेहोश जीवन जी रहे हैं। हम सब इतने बेहोश हो कैसे जाते हैं?

आचार्य प्रशांत: ये सवाल होश में पूछा जा रहा है या बेहोशी में? वजह समझो। जो बेहोश है, उसके लिए ये जानना ज़रूरी है कि पीछे, पीछे, पीछे, और पीछे अतीत में कैसे उसने पहली बार बेहोशी का चयन किया था या उसके लिए ये जानना ज़रूरी है कि अभी होश में कैसे आऊँ तुरन्त? पर अगर हम सवाल सही नहीं पूछ रहे, तो इसका मतलब है सही रास्ता हम चलना नहीं चाहते।

अगर आप ये भी पूछते हो कि ये कैसे हुआ था पहली बार कि अहम् ने बेहोशी का चुनाव किया था, तो ये पूछकर भी आप आज भी बेहोशी का ही चयन कर रहे हो।

जिसे होश में आना होगा वो ये नहीं पूछेगा कि पीछे, पीछे, पीछे और क्या हुआ था, क्योंकि पीछे की श्रृंखला तो अनन्त है न। तुम्हें बताया गया कि पीछे ऐसा हुआ था, इस तरह से तुम बेहोश हुए थे, तो तुम कहोगे, 'फिर उसके पीछे?' फिर बताया जाएगा कि ये हुआ था तो ऐसे तुम बेहोश हुए। तुम फिर पूछोगे, 'उसके पीछे?' तो ये श्रृंखला अगर अनन्त है तो ये पूछकर तुमने ख़ुद को अधिकार दे दिया अनन्त समय पक बेहोश रहने का।

बात समझ रहे हो?

जैसे मान लो कोई बेहोश है, पीया हुआ है ख़ूब। ठीक है? तो उसे ख़ूब चढ़ी हुई है। और तुम उसके सामने जाओ नींबू पानी लेकर के और वो कह रहा है, 'नहीं भाई, पहले ये बता मुझे चढ़ी कैसे?' तो तुमने उसे बताया कि तुझे चढ़ी ऐसे कि वो जो बगल का ओमवीर है वो तुझे पिला कर चला गया था। वो बोल रहा है, 'अच्छा!' और तुम नींबू पानी का गिलास लेकर उसके सामने बैठे हो। वह वो पीने को तैयार नहीं।

फिर पूछता है, 'अब ये बता, ओमवीर को मिली कहाँ से?' तो तुमने बताया कि ओमवीर को वो जो बगल में अर्जुन है, वो लाकर दे गया था। बोल रहा है, 'अच्छा! ये बता अर्जुन को कहाँ से मिली?' अब तुम बता रहे हो, अर्जुन को फ़लानी जगह से मिली। फिर बात चलते-चलते पहुँच गयी उस फैक्ट्री तक जहाँ वो शराब तैयार हुई। अब तुम पूछ रहे हो कि फैक्ट्री में अंगूर कहाँ से आया। 'फिर वो अंगूर जहाँ से आया, उस किसान का नाम क्या था।' ये सब बातें

चल रही हैं जब सामने क्या रखा हुआ है? नींबू पानी का गिलास।

तुम समझ पा रहे हो, ये सारा वार्तालाप, ये सारी प्रश्नोत्तरी चल किसलिए रही है? ताकि नींबू पानी न पीना पड़े, ताकि बेहोशी क़ायम रहे। ये सारे सवाल बेहोशी के हैं। बेहोशी के हैं और बेहोशी को क़ायम रखने के लिए हैं।

अन्यथा तुम्हारे पास बस एक सवाल होगा — 'मैं बेहोश हूँ, ये बेहोशी मुझे पसन्द नहीं आ रही, बताओ उतरेगी कैसे? अभी उतारनी है, अभी उतारनी है, अभी उतारनी है।' बस एक सवाल होगा — अभी उतारनी है, जीया नहीं जा रहा, अभी उतारनी है। बाक़ी किसी सवाल, किसी इधर-उधर की चर्चा में हमारी रुचि ही नहीं। हम नहीं जानना चाहते कहाँ से आयी, क्या हुआ।

तुम्हें साँप काट गया, तुम ये पता करने जाओगे कि साँप किस जाति का था? तुम ये पता करने जाओगे कि साँप किस खेत से निकलकर आया था? या सीधे कहोगे, 'भैया ज़हर चढ़ रहा है, ज़हर उतारो।' और जिसे साँप काट गया, वो कहे, 'पहले ये बताओ कि साँप देसी था या इंपोर्टेड (विदेशी)?' इस आदमी की मरने में ही रुचि है बस।

समझ में आ रही है बात?

तुम्हारी अभी जो स्थिति है, अगर ये पूछने लग जाओगे कि क्या हुआ, क्यों हुआ, तो कार्य-कारण की अनन्त श्रृंखला में फँसकर रह जाओगे। कहीं नहीं रुकने वाली बात। इसीलिए समझाया जाता है उन सब लोगों को जो ग़लत जीवन जी रहे हैं, जो ग़लत काम कर रहे हैं, जो बेहोश हैं — तुम जो कुछ भी कर रहे हो, उसका कारण मत बताने लग जाना। इस तरह से अपने जीवन को, अपनी हरकतों को जायज़ मत ठहराने लग जाना; ये जस्टिफिकेशन (न्यायोचित) है, बिलकुल ग़लत बात है।

'मैं अभी ऐसा इसीलिए हूँ क्योंकि चार साल पहले मैं ऐसा था।'

अच्छा! तो चार साल पहले ऐसे क्यों थे?

'क्योंकि उससे दो साल पहले वैसा था।'

उससे दो साल पहले ऐसा क्यों था?

'क्योंकि उससे पहले ऐसा था।'

उससे पहले ऐसे क्यों थे?

‘क्योंकि पैदा ही ऐसा हुआ था।’

अच्छा, पैदा ऐसे क्यों हुए थे?

‘क्योंकि मेरे माँ-बाप ऐसे हैं।’

माँ-बाप ऐसे क्यों हैं?

‘क्योंकि मेरे दादा-दादी ऐसे हैं।’

ये तुमने कितनी लम्बी श्रृंखला कर ली है? अनन्त श्रृंखला कर ली है। और ये अनन्त श्रृंखला तुम सिर्फ़ इसलिए कर रहे हो, ताकि तुम जिस सड़ी हुई हालत में हो उसको बचाकर रख सको। ‘मैं क्या करूँ, मैं इसीलिए ऐसा हूँ क्योंकि चार साल पहले मैं कैंपस में ऐसा था।’ तो? तुम देख नहीं रहे, तुम कितनी गन्दी चाल चल रहे हो अपने ही साथ।

मत पड़ो इस कार्य-कारण के खेल में। कॉज़ेशन (कारणता) बहुत बड़ा धोखा होता है। क्योंकि कोई चीज़ किसी दूसरी चीज़ का कॉज़ (कारण) वास्तव में होता नहीं। हर चीज़ का कारण अभी है, अतीत में नहीं है। तुम्हारी अगर अभी दुर्गति हो रही है, तो उसका कारण ‘अभी’ में बैठा हुआ है, अतीत में नहीं। कॉज़ेशन (कारणता) धोखा है। वो तुम को बताता है कि कारण पीछे है, जबकि कारण कभी पीछे होता नहीं, कारण अभी होता है।

तुम्हारी दुर्गति अभी इसीलिए है क्योंकि तुमने वही विकल्प चुना है। कारणता बोलते हैं कॉज़ेशन को। क्या? कारणता। झूठी चीज़ होता है वो।

जब भी कभी बहुत बेवकूफ़ी कर दो, ये मत कह दो कि मैंने इस वजह से करी; कारणता धोखा है। वजह हमेशा एक होती है, क्या? बेहोशी का चयन। बस, बेहोशी का चयन है, कुछ और नहीं; कोई और बात ही नहीं, नशा पसन्द है। कुछ भी किया हो, उत्तर उसका बस एक होना चाहिए। कोई बेवकूफ़ी, कोई बेईमानी, जवाब एक। क्या? नशा पसन्द है।

लेकिन उसकी जगह सौ तरह के बहाने, ‘वो रामलाल ने लखुआ की गदही चुरायी थी, इसलिए मेरे बायें हाथ पर तिल का निशान है।' और कहानियाँ उड़ाओ। लम्बे-लम्बे लच्छे फेंको। रामलाल, लखुआ, कबूतर दास और फ़लाना, ये

वो। कहानी पर कहानी, दे-दना-दन। और कोई बोले कि कहानी ही तो है, सबूत लेकर आओ। तो बोलो, ‘नहीं ऐसा तो नहीं है। ये देखो सबूत, इसलिए हुआ था, ये इसलिए हुआ था — कारणता है भाई, कहानी नहीं है, कॉज़ेशन है।’

एक ही कारण है — ठीक अभी तुम्हें नशा पसन्द है, तुम्हें नशे का चयन करना है; इसी को बेहोशी बोलते हैं। और कोई बात नहीं। शराब वाली बेहोशी के साथ तो फिर भी एक मज़बूरी होती है कि चढ़ गया है नशा तो अपना समय लेकर उतरेगा।

लेकिन जो अन्दर वाली बेहोशी होती है, जिसकी अभी हम चर्चा कर रहे हैं, अहंकार वाली बेहोशी, उसके साथ एक सुविधा है कि नशा तत्काल उतर सकता है। तुम अभी चाहो, वो नशा अभी उतर जाएगा। और ठीक अभी तुम नहीं उतार रहे, तो ये तुम्हारी मज़बूरी नहीं है, ये तुम्हारा चुनाव है।

आ रही है बात समझ में?

आज दुश्मन छुपा हुआ है

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, प्रणाम। कल आप बोल रहे थे कि शहीद भगत सिंह के समय में एक शत्रु था और वो शत्रु अंग्रेज़ थे। अपने शत्रु के बारे में उन्हें पता था। इन दिनों अनेक शत्रु हैं और पता भी नहीं है कि वो हैं कौन। कृपया इशारा करें कि वो अनेक शत्रु कौन हैं?

आचार्य प्रशांत: नहीं, मैंने एक-अनेक नहीं कहा था, मैंने प्रकट-अप्रकट कहा था। मैंने कहा था कि शत्रु प्रकट था, अभी अप्रकट है।

प्र: तो अभी इन दिनों वो अप्रकट शत्रु कौन है?

आचार्य: उन सब चीज़ों पर ध्यान दीजिए जिन पर हमारा आज का जीवन आधारित है। उनमें बताइएगा कितना प्रकट

है और कितना अप्रकट है।

कहाँ से शुरुआत करूँ?

कहीं से भी कर सकता हूँ। चलिए, यहीं से कर लीजिए — सौ साल पहले अगर आप माँस खाते थे, तो आपको दिखायी पड़ता था कि जानवर का वध किया जा रहा है। जानवर खड़ा है, उसका गला कट रहा है, वो चीत्कार कर रहा है, ख़ून बह रहा है, पंख नोचे जा रहे हैं या हड्डियाँ हटायी जा रही हैं — ये सब दिखता था। अभी बहुत सुन्दर डब्बा आ जाता है पैकेज्ड मीट का और वो आप ऑनलाइन ऑर्डर कर सकते हैं। और नयी-नयी स्टार्टप्स निकल रही हैं जो आपको ऑनलाइन पैकेज्ड मीट देती हैं, और वो बड़ा सुन्दर लगता है। पीछे की बर्बरता छुपा दी गयी; पहले दिखती तो थी कि मारा जा रहा है, वध हो रहा है।

अब तो चाहे तुम जूते का डब्बा मँगवाओ या माँस का डब्बा, वो एक से ही दिखते हैं। बहुत साफ़-सुथरा मामला होगा, बड़ी सुव्यवस्थित दुकान होगी, उसपर लिखा होगा *'फ्राइड चिकन'*। और वहाँ साफ़ कपड़ों में वेटर आदि कर्मचारी घूम रहे होंगे, एयर कंडीशनिंग चल रही होगी, बढ़िया रोशनी होगी, संगीत भी चल रहा होगा, साफ़-सुथरे, सजे-सँवरे हुए लोग होंगे। उसमें कहीं ये प्रकट है कि असली धंधा क्या है? कहीं प्रकट है? आपको ख़याल भी आता है उस वक़्त क्या? बोलिए। आता है क्या?

बहुत बातें हैं, मैंने बस शुरू यहाँ से किया। अभी और बातों पर भी आ सकते हैं। तब नहीं जाते थे इतनी छुट्टियाँ मनाने लोग, अब आप जाते हो। और आप हवाई जहाज़ पर चल देते हो। वो हवाई जहाज़ कितना कार्बन छोड़ रहा है, ये कहीं से प्रकट है क्या? प्रकट क्या है? प्रकट बस ये है कि हॉलीडे हो रहा है; एयरपोर्ट बढ़िया था, साफ़ था, चिकना था; हवाई जहाज़ कितनी उन्नत तकनीक का लग रहा है। फिर एयरपोर्ट पर उतरे, फिर होटल पहुँच गये, सब कितना साफ़-सुथरा। और जो गन्दगी की गयी है, क्या वो प्रकट है? और वो गन्दगी हमें बर्बाद कर रही नहीं है, कर चुकी है।

आप चिप्स खा रहे हो, चिप्स। सब अच्छा-ही-अच्छा है। क्या ये प्रकट है कि उस चिप्स के कारण हज़ारों ओरांगुटान मारे गये हैं? आप कहोगे, 'अरे! पर ये तो आलू के चिप्स हैं, ओरांगुटान का माँस थोड़े ही है।' ये प्रकट थोड़े ही है कि वो आलू के चिप्स जिस पाम ऑयल से बन रहे हैं, उस पाम ऑयल के लिए जंगल काटे गये। और उन जंगलों में ओरांगुटान रहता था, वो ख़त्म ही हो गया, बचा ही नहीं। आप तो कह रहे हो, 'मैं तो चिप्स खा रहा हूँ।' अब प्रकट थोड़े ही है कि वो चिप्स नहीं है ओरांगुटान का ख़ून है। प्रकट है?

तो ये फ़र्क है आज से सौ साल पहले और आज के समय में। आज सब कुछ ऊपर-ऊपर से चिकना-चुपड़ा है। आपको दिखाया ही नहीं जा रहा है कि आप कितना क्रूर, बर्बर और घटिया जीवन जी रहे हो।

आप किसी दफ़्तर में काम करते हो। आपको लगता है कि मैं तो सॉफ्टवेयर फ़र्म में काम करता हूँ। और बढ़िया है सब ऐसे ही चिकना-चुपड़ा, सुन्दर-सुन्दर, साफ़-साफ़। बड़े सभ्य तरीक़े से काम हो रहा है। कोई भी आपसे चिल्लाकर बात नहीं कर रहा। आपके सब अधिकारों की सुरक्षा की जा रही है। आपको लग रहा है कि मैं तो बड़ी उन्नत, कटिंग एज इंडस्ट्री (अत्याधुनिक उद्योग) में काम करता हूँ; *ब्लीडिंग एज*। आपको पता भी है आप जो सॉफ्टवेयर लिख रहे हो उसका उपयोग किस काम के लिए हो रहा है, पता है? अप्रकट है न, छुपा हुआ है। आप तो मौज में अपनी तनख्वाह लेकर घर आ गये। आपको पता भी है आप जो कर रहे हो वो दुनिया को बर्बाद करने के काम आ रही है चीज़?

सब अप्रकट है।

सौ साल पहले, दुनिया के शीर्ष दो-प्रतिशत अमीरों के पास जितनी दौलत थी, आज उससे हज़ार गुना ज़्यादा है। जिसे जिनी कोफिसिएंट (जिनी गुणांक) कहा जाता है, वो बद-से-बदतर होता जा रहा है। पर आप तो जाकर के अपने मालिकों के लिए दफ़्तर में काम कर आते हो न, बिना ये देखे कि आप जो काम कर रहे हो वो किसी अमीर आदमी को और अमीर बना रहा है। आप तो कहते हो, 'नहीं, मेरी तो बड़ी प्रोफेशनल और रिस्पेक्टबल वर्कप्लेस (सम्मानजनक कार्यस्थल) है, बड़ी मॉडर्न कम्पनी है मेरी। और जितने भी लिबरल प्रिंसिपल्स (उदार सिद्धान्त) होते हैं, सबका पालन करती है।'

ये आपने कभी देखना चाहा कि कुल मिला-जुलाकर के आपके सारे काम का नतीजा क्या निकल रहा है? ये निकल रहा है कि दुनिया की सारी ताक़त कुछ चन्द हाथों में केन्द्रित होती जा रही है।

सब अप्रकट है।

जो प्रकट है, वो छल है, छलावा है, धोखा है। प्रकट ये है कि बहुत सुन्दर मन्दिर बनाया गया है। अप्रकट ये है कि वहाँ पहले जंगल हुआ करता था जिसको काटकर वो मन्दिर बनाया गया। लेकिन आप गुरुदेव की पूजा करे ही जा रहे हैं।

हमारे पास वो आँखें ही नहीं हैं जो उसको भी देख पायें जो बताया नहीं जा रहा, जो छुपा हुआ है। हम बस उतना ही देखते हैं, उतना ही सुनते हैं जितना हमारे कानों में मीडिया डाल देता है, जितना हमारी आँखों को दिखायी पड़ जाता है। हम ऐसे डम्ब (मूर्ख) हो गये हैं कि अपनी छोटी दुनिया, अपने छोटे स्वार्थों के आगे कुछ देख-सुन ही नहीं पाते।

पहले तो दुश्मन सामने था और दुश्मन में इतनी ईमानदारी थी कि बता देता था कि मैं तुम्हारा दुश्मन हूँ। आज तो जो आपका दुश्मन है, वो आपके घर में घुसकर बैठा हुआ है, आपका हितैषी बनकर बैठा हुआ है। आप उसी का पानी

पी रहे हो, उसी की नौकरी कर रहे हो, उसी की रोटी खा रहे हो। उसी को टीवी में देख रहे हो, उसी का बनाया टीवी ख़रीद रहे हो। आप पूरे तरीक़े से अपने दुश्मन की गिरफ़्त में हो।

और तो और, ख़ौफ़ होगा आपको, उसी के अनुसार आप जीवन जी रहे हो, उसी के अनुसार शादी कर रहे हो, उसी के अनुसार बच्चे पैदा कर रहे हो, जी भी उसी के मुताबिक़ रहे हो, मर भी उसी के कहे रहे हो। तुम्हारा खाना-पीना तुम्हारा दुश्मन निर्धारित करता है। तुम्हारे पति-पत्नी तुम्हारा दुश्मन निर्धारित कर रहा है। तुम्हारी एक-एक साँस पर किसी बाहरी ताक़त का कब्ज़ा है जो तुम्हें बस लूट रही है, और तुम्हें पता भी नहीं।

इसलिए धर्मयुद्ध चाहिए। इसलिए कह रहा था कल कि आओ और साथ दो। और मैं ये भी समझता हूँ कि साथ देना उन लोगों के लिए थोड़ा मुश्किल हो जाता है जो जीवन के तमाम तरह के बन्धनों और तथाकथित ज़िम्मेदारियों में बँध गये हैं। इसलिए मैंने कहा था, युवाओं का आह्वान किया था कि तुम आओ।

प्र: जब हमको ये चीज़ें समझ आ जाती हैं, दिखने भी लग जाती हैं, और हम हेल्पलेस (असहाय) महसूस करते हैं इन्हीं सब चीज़ों की वजह से, तो ऐसा क्यों है?

आचार्य: हेल्पलेस इसलिए महसूस करते हो क्योंकि भोगना है। हेल्पलेस तुम इसलिए थोड़ी महसूस करते हो कि दुश्मन ताक़तवर है; हेल्पलेस इसलिए महसूस करते हो क्योंकि तुम्हारे स्वार्थ बड़े हैं, तुम्हें सुविधाओं की लत लगी है, उन्हें तुम छोड़ नहीं सकते। तुम्हें वही सब उत्पाद चाहिए; पैसा चाहिए, रुपया चाहिए, सुविधाएँ चाहिए, इसलिए हेल्पलेस हो। अपने हाथों मजबूर हो।

प्र: अगर कुछ भी करना चाहें, छोटे-से-छोटा, तो कैसे करें?

आचार्य: तो उसकी क़ीमत अदा करो। क़ीमत अदा करने से क्यों डरते हो?

प्र२: क्या इस समस्या के केन्द्र में उपभोक्तावाद है या उससे भी ज़्यादा कुछ जटिल है?

आचार्य: देखो, उपभोक्तावाद कोई नयी चीज़ नहीं है। भोगने की वृत्ति तो आदमी में सदा से थी। अभी तो बस इतना हुआ है कि ज्ञान संचित होते-होते उस अवस्था में पहुँच गया है जहाँ तुम जितना चाहो भोग सकते हो। आदमी भोगना सदा से चाहता था, पर मजबूरी थी, पूरा भोग नहीं पाता था। जो कुछ चाहिए, उतना उपलब्ध ही नहीं था। अब पहले भाप आ गयी, स्टीम आ गयी, इंडस्ट्रियल रिवॉल्यूशन (औद्योगिक क्रान्ति) हो गया, फिर इंटरनेट आ गया। अब इतनी वस्तुएँ हैं भोगने के लिए कि जितना चाहो उतना भोग सकते हो।

ये जो दुनिया की इतनी आबादी बढ़ी हुई है, ये भोगने का ही तो परिणाम है, और ये भोगने के लिए ही पैदा हो रही है। समझना बात को। ये जो आठ-सौ-करोड़ लोग हैं, ये भोगने से ही आये हैं और भोगने के लिए ही आये हैं। क्यों? क्योंकि विज्ञान ने और तकनीक ने न जाने कितनी सम्भावनाएँ पैदा कर दी हैं।

लेकिन वो सम्भावनाएँ, भूलो मत कि बहुत बड़ी क़ीमत पर आ रही हैं। तुम जो चिप्स भोग रहे हो, याद रखना अभी क्या बताया था, वो किसी की लाश से आ रहा है। ये जो तुम चीज़ खा रहे हो, ये यूँही नहीं आ जा रहा है। इसको तुम तो देखते हो और कहते हो कि चीज़ ही तो है। उसके पीछे क्या है, ये तुम्हें पता ही नहीं चलता। ये जो जूता पहन लेते हो, कहते हो कि जूता ही तो है, उसके पीछे क्या है, ये तुम्हें पता ही नहीं चलता।

हम स्वयं को भी बर्बाद कर चुके हैं, इस पृथ्वी को भी बर्बाद कर चुके हैं, आने वाली पीढ़ी तो बर्बाद कर ही दी पूरी।

पहले, एक बात और होती थी, आदमी की भोगने की वृत्ति पर धर्म अंकुश लगाता था। आज के समय में एक और ऐसी घटना हुई है जो इतिहास में हैरतअंगेज़ है, एकदम अनूठी है। आज के धर्मगुरु भोग को प्रोत्साहन दे रहे हैं। उनकी हिम्मत ही नहीं है कि खुलकर कह पायें कि तुम्हारा भोगना तुम्हें बर्बाद कर रहा है। लोग भोगने को इतने आतुर हैं कि उन्हें पता है कि भीड़ जुटेगी ही नहीं अगर हमने भोग के ख़िलाफ़ कुछ बोल दिया। तो वो लोगों के भोग को ही प्रोत्साहित करते हैं।

कोई बताता है कि इतना सम्भोग करो, इतना सम्भोग करो कि तुम्हें मुक्ति मिल जाए। कोई बताता है कि नहीं, जो कुछ चल रहा है, दुनिया बिलकुल ठीक चल रही है। इसी दुनिया के दायरे में रहकर के और आगे बढ़ो, तरक़्क़ी करो, उन्नति करो। जब धर्मगुरु ही भोग के समर्थन में खड़े हुए हैं, तो फिर अब भोग पर अंकुश कौन लगाएगा? विज्ञान भोगने के अवसर दिये जा रहा है और धर्म भोगने को प्रोत्साहित कर रहा है।

विज्ञान भोगने के लिए तुम्हें वस्तुएँ दिये जा रहा है — वास्तव में विज्ञान भी नहीं दे रहा, विज्ञान का तुमने जो दुरुपयोग किया है, जो टेक्नोलॉजी लगायी है, वो दे रही है। तो वस्तुएँ आयी जा रही हैं, आयी जा रही हैं। और उस भोग को रोकने का जो ऐतिहासिक तरीक़ा रहा है, वो तरीक़ा आज विफल हो गया।

देखो न, अभी सब जो गुरु लोग हैं उनको। वो इस बात में शान समझते हैं कि दिखायें कि हम भी तो भोग सकते हैं न। ये रहा हमारा हेलीकॉप्टर, ये रहा हमारा प्लेन, ये रही हमारी *एडवांस्ड मोटरबाइक*। हमारे चश्मे देखो, अँगूठियाँ देखो, हमारे महल देखो। और इतना ही नहीं, उनकी व्यापारियों से गहरी साठ-गाँठ हो गयी है।

शरीर के तल पर तुम किसको भोगते हो? शरीर के तल पर तुम भोगते हो रूप को, सौंदर्य को। तो तुम पाओगे कि

धर्मगुरु सिनेमा के अभिनेता और अभिनेत्रियों के साथ नज़र आ रहे हैं। अगर वो चर्चा सात्विक हो तो बढ़िया बात है, पर अक्सर उस चर्चा में सिर्फ़ ये सन्देश होता है कि धर्मगुरु भी देखो भोग को, रूप को, लावण्य को मान्यता दे रहा है; ये सन्देश ग़लत है। इसी तरीक़े से धर्मगुरु नज़र आ रहे हैं व्यापारियों के साथ, राजनेताओं के साथ। ये बड़े-से-बड़ा पाप है।

धर्म का काम था समाज को दिशा देना, सही दिशा देना। धर्म का काम था अर्थ पर, काम पर अंकुश लगाना। है न? पर जो लोग कामवासना को भड़काते हों, धर्म अगर उनके बगल में बैठा नज़र आये, तो? जो अर्थ-पशु हों, पैसा ही कमाना जिनका प्रयोजन हो, धर्मगुरु उनके बगल में बैठा नज़र आये तो? धर्म अब कैसे अंकुश लगाएगा वासना पर और लोभ पर?

नतीजा ये हुआ है कुल मिला-जुलाकर कि भोग को अब एक नैतिक स्वीकृति भी मिल गयी है। न संयम बचा है, न लज्जा बची है। अब तुम्हारा अहंकार खुलेआम अपना नंगा नाच दर्शा सकता है, कोई रोक नहीं है।

इस सबसे लड़ना ज़रूरी है, भले ही हार मिले। इस समय और कोई काम करा भी नहीं जा सकता है, यही काम करना है। ये काम होगा, नतीजा चाहे जो निकले।

प्र३: आचार्य जी, जैसे दूध है और दूध से बने जो प्रोडक्ट (उत्पाद) हैं, उनके कारण पशुओं का शोषण हो रहा है और वो हमारे लिए इतने लाभकारी भी नहीं हैं। तो जैसे गाँव में या किन्हीं जगहों पर पशुओं को बड़े प्यार से रखते हैं, उनके खाने-पीने का ध्यान रखते हैं, उनकी पूरी सेवा करते हैं, उनके बच्चों का ध्यान रखते हैं और उससे जो दूध मिलता है उसको अपने लिए इस्तेमाल कर लेते हैं। क्या वो भी ग़लत है या ये ठीक है?

आचार्य: कम ग़लत है, पर ग़लत फिर भी है। तुम पशु का इस्तेमाल व्यावसायिक दोहन के लिए करोगे, उसका दूध इधर-उधर बेच रहे हो, वो ग़लत है। उससे ज़्यादा ग़लत है कि उसका वध ही कर डालो। और उससे कम ग़लत ये है कि पशु को रखा हुआ है और उसको दाना-पानी दे रहे हो और उसके दूध का ख़ुद इस्तेमाल करते हो। ये कम ग़लत है पर ग़लत तो ये भी है। कोई तुमको क़ैद में रख ले और तुम्हें ख़ूब दाना-पानी दे, लेकिन तुमसे कहे कि तुम रहो वैसे ही, जियो वैसे ही जैसा हम चाहते हैं, तो स्वीकार करोगे? वो कहेगा कि दाना-पानी ख़ूब देंगे। मानोगे?

प्र३: नहीं।

आचार्य: पशु की जगह जहाँ है, पशु को वहीं होना चाहिए। प्रेमपूर्वक तुमने किसी को रख लिया, ये एक बात है। दूध के लिए किसी को रख रहे हो, ये बिलकुल दूसरी बात है।

प्याज़-लहसुन, और यम-नियम का आचरण

प्रश्नकर्ता: नमन आचार्य जी। हार्दिक आभार आपको। मेरी सुई एक जगह पर बहुत गहरी अटकी हुई है — साधना में प्याज़-लहसुन का सेवन वर्जित कहा जाता है, तो मैं जब विदेश जाती हूँ तो मुझे वहाँ खाना पड़ता है। और जिह्वा दोष भी है, मुझे अच्छा भी लगता है, तो मैं खा लेती हूँ कुछ परहेज़ के बाद। तो मेरा प्रश्न है कि यम-नियम कहाँ तक सही है?

और दूसरा प्रश्न है कि जब हम किसी अच्छे काम को करने जाते हैं तो मन इतना ज़ोर से विरोध करता है, ये मैं इस सत्र के लिए बहुत बारीकी से देख पायी। बहुत विरोध था उसका, लेकिन कहीं-न-कहीं उसको जीत भी पायी, इस बात की प्रसन्नता है। बहुत-बहुत धन्यवाद।

आचार्य प्रशांत: जो प्याज़-लहसुन इत्यादि वाली बात कही, उसके दो पक्ष हैं और दोनों को समझना होगा।

एक ओर तो ये बात बिलकुल सही है कि आप जो कुछ खाते हैं उसका आपकी मनोस्थिति पर अन्तर पड़ता है। जिसको हम शाकाहारी भोजन कहते हैं उसमें भी सब शाक-पत्ते एक समान नहीं होते। अलग-अलग खाद्य पदार्थों के अलग-अलग गुण होते हैं और जब वो भीतर जाते हैं तो अपनी प्रकृति के अनुसार शरीर पर प्रभाव डालते हैं। शरीर पर प्रभाव पड़ा नहीं कि मन पर प्रभाव भी पड़ ही जाएगा।

तो जो कहा गया है कि साधक को या सतोगुण के उपासकों को प्याज़-लहसुन इत्यादि से परहेज़ करना चाहिए, वो बात अपनी जगह बिलकुल ठीक है। आप वैज्ञानिकों से पूछेंगे तो वो भी आपको प्याज़ इत्यादि में कुछ रसायनों की उपस्थिति के बारे में बता देंगे जो शरीर को उत्तेजित करते हैं, स्थिरता में थोड़ा विघ्न लाते हैं इत्यादि।

और आप वैज्ञानिकों से न पूछें, आप स्वयं ही प्रयोग करके देख लें, तो भी आपको पता चल जाएगा कि हाँ, कुछ अन्तर तो पड़ता ही है। आप किसी दिन, उदाहरण के लिए, प्याज़ से ही भरपूर भोजन कर लें, उसके बाद आप दिनभर अपनेआप को देखिएगा, अपनी चेतना की स्थिति में, मनोभावों में थोड़ा अन्तर पाएँगे। ये बात का एक पक्ष है

कि हाँ, निश्चित रूप से आप जो कुछ इस शरीर में प्रविष्ट करा रहे हैं उसका शरीर पर और मन पर प्रभाव पड़ता है।

दूसरा पक्ष थोड़ा सा सूक्ष्म है, उस पर ध्यान दीजिएगा।

आपसे कहा जाए कि आपका एक-दो-तीन-चार-पाँच-छ: (१२३४५६) रुपये का नुक़सान हो रहा है, एक-दो-तीन-चार-पाँच-छ: कितना हुआ? तो आपका एक-लाख-तेईस-हज़ार-चार-सौ-छप्पन रुपये का नुक़सान हो रहा है कहीं पर, किसी चीज़ में। ठीक है न? और आपसे कहा जाए कि ये जो आपको छः संख्याएँ दी गयी हैं इसमें से किसी एक को आप अपनी मर्ज़ी अनुसार कम कर सकते हैं।

आपका एक-दो-तीन-चार-पाँच-छ: यानी छः संख्याएँ, एक-लाख-तेईस-हज़ार-चार-सौ-छप्पन रुपये का नुक़सान हो रहा है और आपसे कहा गया है कि इन छः संख्याओं में से किसी एक को आप अपना नुक़सान घटाने के लिए कम कर सकते हैं, तो आप इसमें से किस संख्या पर ध्यान देकर उसे घटाना चाहेंगी?

प्र: एक पर।

आचार्य: छः पर क्यों नहीं? छः तो इतनी बड़ी संख्या है। छः इतनी बड़ी संख्या है, छः को घटाइए न। छः को क्यों नहीं घटाते, एक को क्यों घटा रहे हो? वो तो बेचारा दुबला-पतला एक अकेला, इकलौता, आगे खड़ा हुआ है, उसकी काहे जान ले रहे हो? ठीक है, छः को घटा देते हैं, सहमत हैं?

प्र: नहीं।

आचार्य: क्यों?

प्र: उससे ज़्यादा फ़र्क नहीं पड़ेगा।

आचार्य: हाँ। ऐसा नहीं है कि छः को घटाने से लाभ नहीं है, बहुत लाभ नहीं है, क्योंकि वो कतार में सबसे अन्त में आता है।

साधक अक्सर यही ग़लती कर देता है — वो स्थूल वज़न पर चला जाता है। तो अब एक-दो-तीन-चार-पाँच-छ: में स्थूल वज़न सबसे ज़्यादा किसका है? छः का। तो वो छः के पीछे हाथ धोकर पड़ जाएगा, वो कहेगा, 'इसी को कम करना है।' और उसको कम करना आसान भी लगता है, क्योंकि वो चीज़ ही सबसे कम मूल्य की है, सबसे पीछे है। जब सबसे कम मूल्य की है तो कम भी सबसे कम मूल्य में हो जाएगी।

बात समझ रहे हैं?

तो जो लोग नेक नीयत भी रखते हैं, वो इस धोखे में फँस जाते हैं। वो अपना श्रम किसी ऐसी जगह लगा देते हैं जहाँ फ़ायदा तो होगा लेकिन कम फ़ायदा होगा।

छः को आप घटा करके शून्य भी कर दें, तो आपने अपने कितने रुपये बचा लिये? कुल छः रुपये बचा लिये। और जान लगा दी आपने छः को शून्य तक लाने में। और आप अपनी दृष्टि में हो सकता है बड़े राजा भी बन जाएँ। कहें कि मुझसे पूछो न छः को पकड़कर शून्य किया है मैंने। लेकिन उससे कुल लाभ कितने का हुआ? कुल छः रुपये का।

लाभ हुआ, हम इसमें इनकार नहीं कर रहे, लाभ तो हुआ।

हमें बस यही नहीं देखना है कि कौनसी चीज़ बहुत ज़्यादा दिख रही है, हमें ये भी देखना है कि कौनसी चीज़ पूरी व्यवस्था के केन्द्र पर बैठी हुई है। ये जो एक-दो-तीन-चार-पाँच-छ: में ‘एक’ है, अगर इस ‘एक’ को शून्य कर दें, तो उसके बाद दो-तीन-चार-पाँच-छ: बच भी जाएँ तो भी अस्सी प्रतिशत काम तो हो गया। हो गया कि नहीं हो गया?

अगर साधक कहे कि दो-तीन-चार-पाँच-छ: की तो मैं कर रहा हूँ उपेक्षा और अवहेलना, पड़े रहने दो, इन पर बाद में ध्यान देंगे, सबसे पहले तो मैं बुल्स आइ मारूँगा, सबसे पहले तो मैं केन्द्र पर निशाना साधूँगा। बुल्स आइ माने 'एक'। ई-वाइ-ई नहीं, बुल्स आइ (हाथ से एक का इशारा करते हुए), आइ , एक।

कबीर साहब हमारे कह गये, “एक साधे सब सधे”, वो यही एक-दो-तीन-चार-पाँच-छ: को तो बोल गये थे। उस एक को साधो न। उसको साधो जो हर चीज़ की शुरुआत में बैठा हुआ है। जिसका केन्द्रीय महत्व है, उसको पकड़ लिया, तो पीछे का जो मामला है वो तो अपनेआप ठीक हो जाएगा। और नहीं भी ठीक होगा तो बीस प्रतिशत ही दिक्क़त बचेगी। बाक़ी काम तो कर ही लोगे।

अब एक को शून्य करने पर ध्यान दें या छः को शून्य करने पर ध्यान दें? बोलिए। और लाभ तो देखिए दोनों में है। आप छः को शून्य कर देंगी, और एक को शून्य कर देंगी, दोनों ही स्थितियों में लाभ तो मिलेगा ही। ऐसा नहीं कि नुक़सान हो जाना है। लेकिन विवेक का तकाज़ा क्या है? किसपर केन्द्रित हुआ जाए — एक पर न? छः पर नहीं।

ठीक है?

छः माने बहुत सारा। ये छिटपुट चीज़ें, हम इनके पीछे लग जाते हैं। और ये सब अपनी-अपनी जगह महत्वपूर्ण हैं, हम नहीं इनकार कर रहे। आचरण सम्बन्धी पचास बातें हैं — ये करो, वो करो। ये सब अपना-अपना महत्व रखती हैं। पर इनका बड़ा सतही और कम महत्व है, पारिधिक महत्व है।

दिक्क़त क्या होती है, जब आप छः के पीछे पड़ोगे तो आप भूल किसको जाओगे? एक को। ये है नुक़सान। ये प्याज़-लहसुन के चक्कर में एक को भुला दिया, ये नुक़सान हो जाता है।

कर्मकांडियों के साथ अक्सर यही होता है। वो कोई ग़लत काम नहीं कर रहे, लेकिन उनकी सारी उर्जा, सारा ध्यान, किस चीज़ में लगा हुआ है? 'कितने बजे उठना है? कितने बजे नहाना है? क्या खाना है? क्या नहीं खाना है? किस बर्तन में खाना है? कितने बजे खाना है? कौनसा त्योहार किस विधि से मनाना है?' और इन सब चीज़ों में अगर ध्यान लगा है तो कोई बुरी बात नहीं हो गयी, क्योंकि ये सब चीज़ें अपना-अपना महत्व ज़रूर रखती हैं। लेकिन आप समझो न, एक-दो-तीन-चार-पाँच-छ: में छः की फ़िक्र करने में ही सारी ऊर्जा लग गयी, एक को तो याद ही नहीं किया। हो गयी न गड़बड़, हो गयी या नहीं हो गयी?

तो इसका तरीक़ा ये है कि हम कहें कि ये जो छः के छः हैं, एक से लेकर छः तक — एक, दो, तीन, चार, पाँच, छ: — हमें ये सब कम करने हैं। हम इन सबको कम करेंगे लेकिन पहले किसको कम करेंगे? एक को। फिर किसको कम करेंगे? दो को, फिर तीन को, फिर चार को, फिर पाँच को, फिर छः को। ये बात कुछ जमी न! कि पहले एक को शून्य कर दो, फिर दो पर आओ, उसको कम करो, फिर तीन पर आओ, उसको कम करो। ये बात साधक को पता होनी चाहिए, वरीयता क्रम, किस चीज़ की प्राथमिकता कितनी है।

बात समझ रहे हैं?

आप बहुत बीमार हैं, आप किस चीज़ को प्राथमिकता देंगी? तीन चीज़ें हैं — मान लीजिए, फेफड़ों में कुछ दोष हो गया है — फेफड़े हैं, त्वचा है और कपड़े हैं। और देखिए तीनों का ही ठीक होना, चुस्त-दुरुस्त होना ज़रूरी है, है न? कपड़े साफ़ होने चाहिए, खाल भी साफ़ होनी चाहिए, और फेफड़े भी साफ़ होने चाहिए। लेकिन अगर तीनों ही गन्दे हों, मान लीजिए फेफड़ों में धुआँ, टार भर गया है, खाल भी गन्दी है और वस्त्र भी गन्दे हैं। और आपको शुरुआत करनी है सफ़ाई की, तो तीनों में से वरीयता किसको देनी है? फेफड़ों को। फिर अगली वरीयता किसको देनी है? त्वचा को। फिर आख़िरी वरीयता किसको देनी है? कपड़ों को।

दिक्क़त तब हो जाती है जब हमारा वरीयता क्रम उलट-पुलट हो जाता है। फेफड़ा गन्दा पड़ा हुआ है और हम लगे हुए हैं कपड़ों की सफ़ाई करने में। और मैं फिर निवेदन कर रहा हूँ, कपड़ों की सफ़ाई करने में कोई बुराई नहीं है।

कपड़े साफ़ होने चाहिए लेकिन ये न हो कि कपड़े साफ़ करने के चक्कर में फेफड़ों पर ध्यान देना ही भूल गये।

तो पहले एक पर ध्यान दीजिए, फिर दो पर, फिर तीन पर, फिर चार पर, फिर पाँच पर; छः आख़िरी चीज़ है। लेकिन कई साधक छः को बना लेते हैं पहली चीज़। और पहली चीज़ क्यों बना लेते हैं, उसका कारण भी स्पष्ट है। एक को शून्य करने में लगती है मेहनत और चुकाना पड़ता है दाम। ये प्याज़-लहसुन का खेल आसान है।

कोई जीवन में कोई क़ुर्बानी न दे, कोई अपने जीवन में किसी तरह का बदलाव लाने को तैयार न हो, तो इतना तो कर ही सकता है न कि मैं सत्य का इतना प्रेमी हूँ कि मैंने प्याज़ छोड़ दी। 'लो! हमने भी कुछ किया। अरे! बुद्ध ने राज्य छोड़ा होगा, हमने प्याज़ छोड़ी है। तुमने राज छोड़ा, हमने प्याज़ छोड़ी, हम किसी से कम नहीं।'

मैं ये चौथी-पाँचवी बार फिर से कह रहा हूँ कि मैं प्याज़ खाने का हिमायती नहीं हूँ। आरम्भ में ही मैंने कहा कि इस तरह के तमोगुणी पदार्थ या रजोगुणी पदार्थ शरीर के लिए हानिकारक तो होते ही हैं। अल्प मात्रा में ठीक है, औषधि की तरह भी ठीक है, पर आप उसकी आदत ही लगा लो तो हानि तो होती ही है। लेकिन हानि और हानि में कुछ तुलना करनी पड़ेगी न?

मच्छर काट जाए आपको और साँप काट जाए, तो कुछ तो अन्तर रखना पड़ेगा न? क्यों भई? विकल्प दे रहे हैं, कि मच्छर काटे और नागराज काटे, किंग कोबरा, किससे कटवाना है? भगवान करे दोनों में से कोई न काटे, लेकिन इन दोनों में से अगर एक को भगाना ही है तो मच्छर को भगाओगे क्या? पहले वरीयता किसको भगाने में दोगे?

प्र: साँप को।

आचार्य: इसी तरीक़े से पहले एक का उपचार करो फिर दो, तीन, चार, पाँच, छः पर आना। पाँच और छः के चक्कर में एक और दो को मत भूल जाना।

ऐसी ग़लती कई बच्चे अपनी बोर्ड इत्यादि की परीक्षाओं में करते हैं। एक सवाल होगा दस नम्बर का और एक सवाल होगा आधे नम्बर का, ज़ीरो प्वाइंट फ़ाइव का, वो जो आधे नम्बर वाला सवाल है उसमें उलझकर आधा घंटा लगा देंगे और फिर बड़ी सन्तुष्टि के साथ कहेंगे, 'फोड़ दिया, देखा! हल कर दिया।'

अरे! उसको तुमने हल भी कर दिया तो क्या पाया? उसको हल करने का नतीजा ये हुआ कि दस नम्बर के सवाल के लिए तुम्हारे पास अब ऊर्जा और समय बहुत कम बचे भाई।

अधिकांश ऊर्जा दीजिए अहम् के अवलोकन को। ठीक है?

जैसे कि एक-लाख-तेईस-हज़ार-चार-सौ-छप्पन में, ये जो 'एक' है इसकी क़ीमत कितनी है? एक-लाख की है। 'दो' की क़ीमत बीस-हज़ार की है, 'तीन' की क़ीमत तीन-हज़ार की है, 'चार' की क़ीमत चार-सौ की है और 'पाँच' की क़ीमत पचास की है, और 'छः' की क़ीमत छः की है। तो 'एक' को एक-लाख का वज़न देना है, 'एक' को कितनी क़ीमत देनी है? एक-लाख की। और 'दो' को क़ीमत देनी है बीस-हज़ार की। इस अनुपात में क़ीमतें बाँटिए। 'तीन' को क़ीमत देनी है तीन-हज़ार की।

समझ रहे हैं बात को?

तो अब अगर चुनाव करना है कि 'एक' को कितना समय दें और 'तीन' को कितना समय दें, तो आप कहेंगे, 'वही रेशियो , वही अनुपात होना चाहिए जो एक-लाख और तीन-हज़ार में है।' और अब अगर कोई पूछे कि 'एक' और 'छः' में से किसको कितनी वरीयता दें? तो क्या उत्तर देंगे आप तत्काल? 'एक-लाख और छः।'

तो अगर एक-लाख बार मैं ध्यान दूँगा अहम् पर, अपनी दिनचर्या पर, अपने आचरण, विचारों और कर्मों के अवलोकन पर, तो छः बार मैं फिर ध्यान दे लूँगा ये प्याज़-लहसुन पर भी। पर छः बार मैं अगर प्याज़-लहसुन पर ध्यान दूँ, तो उसके लिए ज़रूरी है कि पहले एक-लाख बार ध्यान दूँ मूल वृत्ति पर, अहम् पर। एक-लाख बार उस पर ध्यान दे लीजिए, फिर छः बार इस पर भी ध्यान दे लीजिएगा।

ये सबकुछ बहुत हुआ है, तभी तो फिर सन्तों को ये गाना पड़ा था न कि

नहाए-धोए क्या हुआ, जो मन मैल न जाए। मीन सदा जल में रहे, धोए बास न जाए।।

~ कबीर साहब

पंडितों ने यही बना लिया था कि नहाना-धोना बहुत ज़रूरी है। कबीर दास कहते थे — जहाँ असली सफ़ाई होनी चाहिए वहाँ तो तुम्हारी सफ़ाई है नहीं, दिल काला करके घूम रहे हो। 'एक' पर ध्यान दिया नहीं, 'छः' पर तुमने पूरा ध्यान दे दिया है कि नहाना-धोना, नहाना-धोना। और बाल बिलकुल मुंडे हुए होने चाहिए। मूंड मुंडाये क्या हुआ!

मूंड मुंडाये क्या हुआ, जो मन मैल न जाए। बार-बार के मूंडते, भेड़ न बैकुंठ जाए।।

~ कबीर साहब

क्या करोगे साधना के इन सब बाह्य अंगों में उलझकर, अगर जो केन्द्रीय चीज़ है उस पर ध्यान नहीं दे रहे? और अक्सर आप केन्द्रीय चीज़ पर ध्यान इसीलिए नहीं देते क्योंकि आप बाहर उलझे हुए हैं।

बाल कैसे होने चाहिए? खाना-पीना कैसा होना चाहिए? किससे बात करनी है? किससे नहीं करनी है? कौनसी पूजा कब करनी है? यही सब है। ये कर लिया, ये कर लिया। अरे! पूरा एक विज्ञान होता है, शास्त्र होता है, ये चीज़, वो चीज़, ऐसी, वैसी। आप उसमें प्रवेश करें तो आपको दिखायी देगा कि सारी ऊर्जा ये खा ले, तो भी पूरा नहीं पड़ेगा, इतनी चीज़ें होती हैं। और उनमें से हर एक चीज़ का अपना महत्व होता है।

तो प्रश्न ये नहीं है कि महत्व है या नहीं है, प्रश्न ये है कि कितना महत्व है। कितना तुलनात्मक महत्व है?

ठीक है?

प्र: प्रणाम आचार्य जी। आपने जैसे बताया कि ये बाहर की चीज़ है, बहुत ज़्यादा इसका मूल्य नहीं है। लेकिन जो थोड़े हाइयर ऑर्डर के लोग थे उन्होंने कंडक्ट (आचरण) का मूल्य बहुत बताया। जैसे शिक्षक हैं तो बात भी उस शिक्षक की प्रभावशाली होती है जिसका कंडक्ट एक स्तर का होता है। तो वो बात इससे कुछ कॉन्ट्रेडिक्टरी (विरोधाभासी) है क्या?

आचार्य: नहीं, कॉन्ट्रेडिक्ट नहीं कर रही है। दिक्क़त क्या हो जाती है कि कंडक्ट , माने आचरण, की जब हम बात करते हैं तो हमें ऐसा लगता है कि जैसे आचरण पहली चीज़ है।

हम आचरण से अर्थ समझते हैं कि जो भी किया वही आचरण है। जो भी किया, वही आचरण है। और आचरण के तल पर बदलाव लाना हमें सबसे आसान लगता है, क्योंकि आचरण तो कृत्रिम होकर के, नकली होकर के, मुखौटा पहनकर भी बदला जा सकता है। बदला जा सकता है न?

आप भीतर से जैसे हैं वैसे रहते हुए भी, बिलकुल शत-प्रतिशत वैसे ही बने रहते हुए भी आप आचरण तो अपना बदल ही सकते हैं न? बदल देते हैं न कि ऐसे कर दिया, वैसे कर दिया। बाहर-बाहर से कुछ और, अन्दर कुछ और। "तन उजला मन काला, बगुला कपटी अंग।"

क्यों कहना पड़ा कबीर साहब को?

तन उजला मन काला, बगुला कपटी अंग। तासे तो कौआ भला, तन मन एक ही रंग।।

~ कबीर साहब

क्योंकि आचरण के तल पर कुछ करना कपटी मन के लिए सबसे आसान है। लेकिन जब सिखाने वालों ने आचरण की बात करी, तो दूसरी बात कह रहे थे।

वो ये कह रहे थे कि तुम जो हो, वो अन्ततः तुम्हारे आचरण में परिलक्षित होता है। वो आचरण को बिलकुल तुम्हारी हस्ती के आख़िरी उत्पाद की तरह ले रहे थे। कह रहे थे — तुम जो कुछ हो वो अन्ततः दिखायी कहाँ देगा? तुम्हारे कर्म में दिखायी देगा न भाई।

तो उन्होंने पाखंड को काटने के लिए समझ लो एक पैमाना दिया, एक कसौटी दी। उन्होंने कहा कि ज्ञान वगैरह तुम्हें जो भी हो गया हो, वो सब तो ठीक है, अन्ततः तो हम ये देखना चाहते हैं कि तुम्हारा आचरण कैसा है। तुम बता दो कि तुम्हें अहिंसा का बहुत ज्ञान है और दिखायी देते हो तुम सबके प्रति विद्वेष से ही भरे हुए, तो तुम्हारा ज्ञान किसी काम का नहीं है। वास्तव में ज्ञान तुम्हें हुआ ही नहीं है।

वो आचरण को ले रहे थे आपकी हस्ती के आख़िरी प्रमाण की तरह। वो वस्तुतः सीधे-साधे लोग थे। उन्होंने कहा, ‘जैसे हो, वैसा आचरण करोगे। आचरण पर निगाह रख लेना, बात पकड़ में आ जाएगी कि कितने पानी में हो।’

हम ज़रा धूर्त लोग हैं, हम क्या करते हैं? हम अपनी हस्ती को जस-का-तस बचा जाते हैं और हस्ती के ऊपर आचरण का नकाब डाल लेते हैं। अब गड़बड़ हो जाती है, उन्होंने कुछ और समझाया था और उन्होंने जो समझाया था हमने उस बात की काट निकाल ली है।

समझ रहे हो बात को?

तो कोई विरोधाभास नहीं है। उन्होंने भी यही कहा था कि एक पर ध्यान दो तो जो छठी चीज़ है वो अपनेआप ठीक हो जाएगी। वो कह रहे थे कि अगर दिल साफ़ हो गया तो फिर तुम्हारा जो बाहरी बोलचाल, बात-व्यवहार है, इसमें अपनेआप सफ़ाई आ जाएगी। और दिल की सफ़ाई दिख तो सकती नहीं, दिल की सफ़ाई पता कैसे चले? बोले — दिल की सफ़ाई पता करनी है तो आचरण से पता कर लो, कंडक्ट से। ये उनके कहने का सार था।

और हमने उसमें क्या तरक़ीब लगा दी? हमने कहा, ‘अच्छा! तो जब सबकुछ पता आचरण से ही चलना है, तो हम आचरण को ही ठीक कर देते हैं न, पीछे का काम करने की ज़रूरत ही क्या है!’

वो कह रहे थे, 'पीछे की सफ़ाई करो, तो आचरण अपनेआप चमक जाएगा।' हमने कहा — पीछे गन्दगी भी पड़ी हुई है तो कोई बात नहीं, हम आचरण को चमका देते हैं। "तन उजरा, मन काला" हमने कर डाला।

तो नतीजा होता है कि बहुत सारे धार्मिक लोग बस आचरणवादी होकर रह जाते हैं। उनके आचरण में आप कोई कमी पा ही नहीं सकते। कॉपी बुक होगा, लगेगा कि एक-एक बात जो किताब में लिखी हुई है, ये उसके प्रत्यक्ष जीवित उदाहरण हैं, क़तई आदर्श हैं। आप उनमें कोई खोट निकाल ही नहीं पाएँगे। एक-एक शब्द उनका नपा-तुला होगा, एक-एक कदम जैसे माप-मापकर रखते होंगे। लेकिन दिल कैसा होगा?

गड़बड़ हो गयी न!

देखिए, गुरुओं की, ज्ञानियों की बातें एक अर्थ में किसी महामनीषी की बातें होती हैं। और दूसरी तरफ़ से देखोगे न तो किसी मासूम बच्चे की बातें होती हैं। उनमें कपट नहीं होता। जिनके माध्यम से ये बातें संसार में आयीं, वो कपटी लोग होते तो उनके माध्यम से ये बातें संसार में आ नहीं सकती थीं। कम-से-कम जिस क्षण में ये भीतर उद्‌घाटन होता है, उस क्षण में तो आप पूरे तरीक़े से निर्दोष हो जाते हो।

निर्दोषिता को ही कहते हैं मासूमियत। उस क्षण में आपमें कोई विकार नहीं बचता है क्योंकि विकार होता तो वो चीज़ आप पर उतरती ही नहीं।

तो बात बहुत-बहुत-बहुत सीधी-सादी होती है। और उस बात को फिर समझने के लिए और उस पर अमल करने के लिए उतना ही सीधा-सादा मन भी चाहिए। वो मासूम बात जब किसी खिलाड़ी, तजुर्बेकार खिलाड़ी के हाथ में पड़ जाती है तो वो उसका फिर कुछ भी कर सकता है।

हम बड़े खिलाड़ी लोग हैं। जिन्होंने वो बातें कही थीं, वही आकर के देखें कि उनकी बातों का अर्थ क्या किया गया, माने अनर्थ क्या किया गया और फिर उन पर अमल कैसे किया गया, तो वो थोड़ा हँसेंगे, थोड़ा रोएँगे, फिर थोड़ा हँसेंगे, फिर थोड़ा रोएँगे। हँसेंगे इंसान की मूर्खता देखकर, और रोएँगे अपनी विफलता देखकर। कहेंगे, 'किस उद्देश्य से दुनिया को ये सब बातें बतायीं, और हाय रे दुनिया! क्या कर डाला उन बातों का!'

आचरण को साधना का आख़िरी फल मानना, आख़िरी फल। जैसे कि छोटा सा, नन्हा सा पौधा हो, उससे भी पहले बीज हो, फिर कोपलें फूटें, फिर बड़ा हो, फिर शाखें आती हैं, फिर भर जाता है पत्तियों से, फिर फूल लगते हैं, फिर फल हो जाते हैं। तो आख़िरी चीज़ होती है आचरण, फल। आख़िरी चीज़।

अगर सही रास्ता लिया है तो आचरण हमेशा आख़िरी चीज़ होगा। अगर आत्मिक तरक़्क़ी का आपने सही रास्ता लिया

है तो आचरण में वो बात हमेशा सबसे अन्त में दिखायी देगी। जब भीतर का सारा काम पूरा हो जाएगा, तब अन्ततः आपके आचरण में भी एक रूहानियत आ जाएगी। जैसे कि जब पेड़ में सबकुछ ठीक-ठाक होता है, तब अन्ततः उसमें फल लग जाते हैं।

और आप दूसरा काम भी कर सकते हो — कि कौन इतनी मेहनत करे कि बीज डाले, सेवा करे, फिर नन्हे पौधे को बचाये गाय-बकरी से, और फिर इंतज़ार करे और लम्बा इंतज़ार करे और फिर जाकर के पाँच साल, दस साल में उसमें फल लगे। कौन इतना इंतज़ार करे! तो ऐसा करते हैं चलो, क्या है, बबूल का पेड़ है? अच्छा, छुन्नू, जाना ज़रा प्लास्टिक वाले आम ले आना।

समझ गये बात? क्या?

'कौन लम्बा-चौड़ा काम और इंतज़ार करे! बबूल के पेड़ पर लटका दो प्लास्टिक के आम।' और ये जो प्लास्टिक के आम हैं, ये दिखते हैं बिलकुल असली आम जैसे।

तो अधिकांश तुम धर्मावलंबियों को बिलकुल बहुत सुन्दर और खुशबूदार आम जैसा ही पाओगे। बस जब पास जाकर के तहक़ीक़ात करोगे, तब पता चलेगा कि इस आम में रस नहीं है और प्राण नहीं है, जीवन नहीं है।

प्रमाण क्या है कि उनका आम नकली है? किसी को मिठास नहीं दे पाता, किसी को प्राणदायक रस नहीं दे पाता। और उससे भी आगे का प्रमाण ये है कि उस आम की गुठली से कोई नया आम पैदा नहीं होता।

जो असली लोग थे, उनकी असलियत का सबूत ये था कि वो बीज की तरह ज़मीन में गड़ गये। और उनके पीछे बहुत बड़ा दरख़्त पैदा हुआ, जिसमें फिर उन्हीं के जैसे सैकड़ों और आम लगे।

बात समझ में आ रही है?

और नकली आदमी नकली आम जैसा होता है। वो अधिक-से-अधिक ये कर सकता है कि जो उसे दूर से देख रहे हों, उनकी तारीफ़ें बटोर ले। लेकिन वो अपने पीछे कभी एक पूरी पौध, एक पूरा बाग नहीं छोड़ पाएगा क्योंकि उसमें प्राण ही नहीं हैं न।

बात समझ में आ रही है?

तो हमने फल को पूरी साधना के परिणाम की जगह, साधना का आरम्भ और अन्त, दोनों बना लिया। हमने कहा, 'हम अपना पेड़ तो बदलेंगे ही नहीं, न ही नया पेड़ लगाएँगे।' किस पेड़ की बात कर रहा हूँ? जो हस्ती का पेड़ है हमारी, जो हमारे अस्तित्व का पेड़ है, जिसके केन्द्र पर अहंकार का बीज बैठा हुआ है। वो बबूल का पेड़ है हमारा। हमने कहा, 'इसको नहीं बदलेंगे।'

गुरु साहब यही तो बोल गये थे कि अगर तुमने सब कुछ ठीक करा है तो देखो, आचरण ऐसा होता है, आचरण ऐसा होना चाहिए। ये भी उन्होंने नहीं कहा था कि सबकुछ ठीक करा तो आचरण ऐसा होगा, उन्होंने कहा था, 'आचरण ऐसा रखो।'

बोले, 'यही तो बोल गये थे न गुरु साहब कि आचरण ऐसा रखो, हम रखे देते हैं। छुन्नू, लाया नहीं अभी तक प्लास्टिक वाले आम? ये लो लटका दिये बबूल के पेड़ पर प्लास्टिक वाले आम।'

आ रही है बात समझ में?

और अंधी है सारी दुनिया भी, आम दिखे नहीं कि बावरी हो जाती है। वो फिर ये पूछती भी नहीं कि आम तो ठीक है पर महाराज आपकी ज़िन्दगी में इतने काँटे क्यों हैं? वो जो पहले-पहल जब आम हुए थे, उन्होंने तो आम भी दिये थे, खुशबू भी बाँटी थी और छाया भी बाँटी थी। उनसे दुनिया को सिर्फ़ फल ही नहीं मिले, फलों के साथ-साथ खुशबू भी मिली और छाया भी मिली। पर आपके फल तो दिखायी दे रहे हैं बढ़िया, मस्त, पीले-पीले आम लटक रहे हैं। लेकिन आम के साथ ये काँटें क्यों हैं और छाया क्यों नहीं देते?

ये हम पूछते ही नहीं। हमें आम दिखे नहीं कि हम बिलकुल! कहे, 'यही तो बात है, सब धर्मग्रन्थों में इसी आम को तो आख़िरी चीज़ बोला गया है। आख़िरी चीज़ हमें दिखायी दे रही है माने सब ठीक ही होगा।' जाँचते भी नहीं हम, ये भी नहीं कहते कि एक फल थोड़ा इधर भी दीजिएगा। बस दूर से ही प्रणाम किया और बोले, 'ठीक है, बढ़िया।'

इस बात को अच्छे से समझ लीजिए।

जैसे आपने यम-नियम की बात करी थी, उनमें भी कई बातें आचरण से ही सम्बन्धित हैं। जब कभी ये कहा भी गया है कि आचरण पर ध्यान रखो, तो आचरण को सिर्फ़ विधि बनाया गया है आंतरिक बदलाव तक पहुँचने की। जैसे कि कोई आम से शुरुआत करे, पर उसका इरादा ये हो कि गुठली रोप कर नया पेड़ खड़ा करना है।

तो वहाँ आख़िरी चीज़ को क्या बना दिया गया — पहली चीज़; कि बात आम की करी पर आम की बात इसलिए करी क्योंकि आम आपको अगर मिल गया है तो फिर उसकी गुठली आप गाड़ दोगे, उससे फिर पूरा वृक्ष मिल जाएगा।

नयी शुरुआत हो जाएगी। अगर आपने आचरण पर ध्यान दे लिया तो एक नयी शुरुआत हो सकती है।

लेकिन अन्ततः उद्देश्य तो सदा यही था न कि पूरा पेड़ मिले? आम भी बस पहचान के लिए कहा गया, क्योंकि फल लगते हैं तो पहचानना आसान हो जाता है कि पेड़ है। जीसस ने कहा है न, क्या? "अ ट्री इज़ नोन बाय इट्स फ्रूट्स।" (एक पेड़ की पहचान उसके फल से होती है।)

अन्ततः तो जीवन आम भर भी नहीं है, जीवन क्या है? समूचा पेड़ है। तो बात ये थी कि जब उन्होंने कहा भी कि आचरण पर ध्यान दो, फल पर, आम पर ध्यान दो तो वो यही कह रहे थे कि ये आम है, इसमें गुठली होगी, इससे एक नया, पूरा, तुम्हारे जीवन का वृक्ष खड़ा हो जाएगा।

ले-देकर के चाहते वो यही थे कि ज़िन्दगी का एक नया, सुन्दर, स्वस्थ वृक्ष ही खड़ा हो जाए। ये भूलिएगा नहीं कभी भी। ये उन्होंने कभी और क़तई नहीं चाहा कि आपके बबूलों पर ही नकली आम लटक जाएँ। और हम अपने बबूलों को ही बचाने के लिए कटिबद्ध रहते हैं।

बात आ रही है समझ में?

तो आचरण एक विधि भी हो सकता है आंतरिक परिवर्तन की।

लेकिन अगर वो आंतरिक परिवर्तन की विधि है भी, तो भी बात तो यही पता चलती है न कि उद्देश्य अन्ततः क्या है? आंतरिक परिवर्तन, भाई। बाहरी आचरण कभी उद्देश्य नहीं है, उद्देश्य तो आंतरिक परिवर्तन है।

आप देखिए, जब यम-नियम को थोड़ा आगे बढ़ाइए, वहाँ जो सारी बातें करी जाती हैं या कम-से-कम अस्सी-नब्बे प्रतिशत जो शब्द हैं, आप देखेंगे कि वो नकार के शब्द हैं। अस्तेय; अस्तेय माने? चोरी नहीं करना। किसी चीज़ को मना करा गया है, है न? असत्य से बचना है; अपरिग्रह, अहिंसा — ये सब क्या हो रहा है? ये आपसे कहा जा रहा है कि देखो, तुम कैसे हो, तुम्हारा पेड़ बबूल का है।

समझ में आ रही है बात?

प्र: जी नमन, लेकिन जब हमने बहुत ऊँची साधना का लक्ष्य बनाया है तो तैयारी तो हमें करनी होगी न, छोटी-छोटी ही सही। किसी भी मंदिर में प्याज़-लहसुन का भोग क्यों नहीं लगता है? और कोई भी साधु-सन्त इसका सेवन नहीं करते हैं। माँसाहार को भी वर्जित कहते हैं। और मैंने ख़ुद भी इसका सेवन करके देखा है, ये उत्तेजित करता है हमारे

शरीर को।

आचार्य: करता है। एक-दो-तीन-चार-पाँच-छ: है, ठीक है, एक-लाख-तेईस-हज़ार-चार-सौ-छप्पन का नुक़सान है। कोई ऐसा है जिसने एक-लाख-तेईस-हज़ार-चार-सौ-पचास का नुक़सान अब रोक दिया है पूरे तरीक़े से। उन मोर्चों पर उसको अब पूर्ण विजय मिल गयी है।

'एक' का मोर्चा जीत लिया, एक-लाख का मोर्चा जीत लिया, फिर 'दो' माने बीस-हज़ार का मोर्चा जीत लिया, फिर 'तीन' माने तीन-हज़ार का मोर्चा जीत लिया, फिर 'चार' माने चार-सौ का मोर्चा, फिर 'पाँच' माने पचास का मोर्चा जीत लिया। तो अब कुल मोर्चा कौनसा बचा है? 'छः' का। वो कहता है, 'अब चलो, इसको भी जीत लेंगे। आख़िरी है, इसको भी जीत लेंगे।' पर जिसने अभी एक-लाख वाला ही मोर्चा न जीता हो, वो 'छः' की बात करे या 'एक' की?

साधु क्या कर रहा है, वो वही चीज़ नहीं हो सकती जो आपको करनी है। साधु हो सकता है अपने सारे मोर्चे जीतकर बैठा हो, उसका आख़िरी बस यही बचा हो, तो कहता है कि चलो अब इसको भी ठीक कर देते हैं।

लेकिन आपके तो अभी बहुत बड़े-बड़े नुक़सान खुले हुए हैं, पहले उनको निपटाना है न? फिर इस पर आना। फिर कौन मना कर रहा है! मैंने चार बार निवेदन करके कहा कि हाँ, उन चीज़ों का फ़र्क तो पड़ता ही है, प्याज़-लहसुन वगैरह का फ़र्क तो पड़ता ही है। प्रश्न ये नहीं है कि फ़र्क पड़ता है या नहीं, प्रश्न ये है कि तुलनात्मक रूप से कितना फ़र्क पड़ता है। फ़र्क तो पड़ता ही है।

असली चीज़ पर पहले ध्यान दीजिए।

मैं क्यों कह रहा हूँ असली चीज़ पर पहले ध्यान दीजिए? देखिए, अगर आपके पास अनन्त समय होता तो मैं कहता कि आप किसी भी मोर्चे पर पहले भिड़ जाइए, बहुत समय है। पर आपके पास समय है कुल दस-बीस साल का, मान लीजिए चालीस साल का, तो आपको फिर प्रायोरिटाइज़ करना पड़ेगा न, वरीयता बनानी पड़ेगी न।

जैसे कि दो घंटे की परीक्षा में आपके सामने बीस सवाल हैं और आपको दिख रहा है कि हर सवाल का मूल्य अलग-अलग है। तो वरीयता कुछ बनाते हो न कि पहले कौनसा हल करना है। फिर अगर समय बचेगा तो ये अन्त में एक-एक, दो-दो नम्बर वाले भी कर देंगे। पर पहले उन सवालों पर ज़रा हाथ साफ़ किया जाए जो दस-दस, बीस-बीस नम्बर वाले सवाल हैं।

अगर आपके पास अनन्त समय होता परीक्षा में, टेक होम एग्ज़ामिनेशन है, एक हफ़्ते बाद कॉपी लाकर दे देना, तो फिर तो कोई दिक्क़त नहीं है। फिर तो किसी भी सवाल पर आप जी भर कर एक दिन, दो दिन लगा दें। दो नम्बर के

सवाल पर दो दिन लगा दीजिए, तब कोई बात नहीं थी।

लेकिन जो सीमित समय के जीव हैं, उनको ये देखना होगा कि अपने सीमित समय का अच्छे-से-अच्छा, ऊँचे-से-ऊँचा इस्तेमाल किस तरह से करा जा सकता है। पहले बड़े मोर्चे जीते, उसके बाद जो ऊर्जा बचे, जो समय बचे वो सब ध्यान बाक़ी चीज़ों पर लगाए।

अच्छा बताइएगा, ये सत्र हो रहा है, ठीक है? यहाँ पर एक चीज़ है कि ये जो चादरें हैं जिन पर आप बैठे हैं, ये कितनी साफ़ हैं। एक चीज़ है कि भीतर कोई मच्छर इत्यादि तो नहीं है, कहीं काट न ले। दो बातें बता दीं। तीसरी चीज़ है कि पंखा, एसी, कितना और कैसा लगा हुआ है। चौथी चीज़ है लाइटें, पाँचवीं चीज़ है ये रिकॉर्डिंग, और छठी चीज़ हैं ये वक्ता श्री। ये सब-के-सब महत्वपूर्ण हैं न इस सत्र के लिए? इनमें से आपको कहा जाए कि आपको कोई एक ही चीज़ मिल सकती है, किसी एक चीज़ का ही प्रबन्ध किया जा सकता है।

ये छः चीजें हैं, और छः की छः महत्वपूर्ण हैं, कौनसी छः चीज़ें? ये पंखा, ये चादर, ये मक्खी-मच्छर, ये लाइट इत्यादि, वो कैमरा रिकॉर्डिंग और ये वक्ता। आपसे कहा जाए, 'वैसे तो ये छः हैं और इन छः के छः का अपना-अपना महत्व है, पर छः में से, देखो, एक का ही प्रबन्ध हो सकता है।' तो किस चीज़ का प्रबन्ध करना चाहेंगे? कि पंखा बढ़िया चले?

प्र: गुरुजी का।

आचार्य: ठीक है। अब गुरुजी का प्रबन्ध हो गया, आ गये गुरुजी। अब किस चीज़ का प्रबन्ध किया जाए? गुरुजी आ गये, चलो वो मोर्चा जीत लिया। अब किसका प्रबन्ध किया जाए? अब कैमरे का किया जाए। अब कैमरा भी है, तो कैमरे की ही क्वालिटी (गुणवत्ता) को, रिकॉर्डिंग को, और बेहतर बनाने के लिए किस चीज़ का प्रबन्ध किया जाए? लाइट्स का। चलो, अब ये मोर्चा भी जीत लिया।

अब किस चीज़ पर आया जाए? चलो, पंखा इत्यादि देख लेते हैं। अब किस चीज़ पर आया जाए? मक्खी-मच्छर देख लेते हैं। फिर आख़िरी चीज़ क्या देख ली जाए? कि चादर कैसी है। बात समझ में आ रही है न? नहीं तो चादर बिछा लीजिए, उसी से कैम्प हो जाएगा, हम हटे जाते हैं।

अधिकांश धार्मिक साधना ऐसी ही हो जाती है। वहाँ चादरें बहुत साफ़-साफ़ बिछी हुई हैं, केन्द्र पर जिसको बैठना चाहिए था, वो नदारद है। ठीक?

इसका माने, मैंने क्या ये कहा कि चादरें गन्दी रखनी हैं? चादरें साफ़ रखनी हैं, पर क्या होगा चादर साफ़ रखकर अगर चादर साफ़ रखने के चक्कर में गद्दी खाली रह गयी? “सेज पूरी सजा दी, का करूँ सजनी आये न बालम।” अधिकांश धार्मिक साधना ऐसी ही रह जाती है, सबकुछ सजा हुआ है, बलमा नदारद है। वो नहीं होने देना है।

पढ़ाई, संसार, और जीवन के निर्णय

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, कल मेरी परीक्षा है लेकिन मन शान्त नहीं है। मैंने प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय वर्ष में विश्वविद्यालय में प्रथम स्थान प्राप्त किया। पर इस वर्ष ऐसा हो रहा है कि मन बड़ा अशान्त है। कुछ ही घंटे बचे हैं। आपका आशीर्वाद मिल जाएगा तो कल का दिन बहुत ही अच्छा जाएगा।

आचार्य प्रशांत: आशीर्वाद लेने से क्या होगा, जाकर पढ़ाई करो बेटा। यही आशीर्वाद है। और मन को क्यों इतना महत्व दे रहो कि शान्त है या अशान्त है। हो गया मन शान्त, तो उससे क्या पा जाओगे?

मन तुम्हारी छाया है। तुम दृढ़तापूर्वक चल पड़ो कहीं को, छाया को पीछे-पीछे आना ही पड़ेगा। ऐसा हुआ कि किसी की छाया ने कहा हो कि मैंने तो खूँटा पकड़ लिया, अब तुम्हें आगे नहीं जाने दूँगी? तुम छाया का निर्धारण करते हो, छाया तुम्हारा निर्धारण नहीं कर सकती। मन तो तुम्हारा तुम्हारे पीछे-पीछे आएगा, तुम जान तो दिखाओ।

मन की शान्ति-अशान्ति, सहमति-असहमति, इनकी परवाह नहीं किया करते। जानते हो मन पर कितने तरह के प्रभाव पड़ते हैं इधर से, उधर से? गिनती भी नहीं कर पाओगे। लाखों सालों के संचित प्रभावों का नाम है ‘मन’, उसको तो कोई भी, किधर को भी खींच सकता है। लेकिन ये याद रखो कि तुम्हारी ताक़त, आत्मा की ताक़त, मन पर पड़ते किसी प्रभाव की नहीं है।

दोनों बातें बोल रहा हूँ।

एक तो ये कि मन पर करोड़ों प्रभाव आजतक पड़े हैं, और मन ने उनको सोख लिया है, अंगीकार कर लिया है। वो तुम्हें कभी इधर को, कभी उधर को खींचते-ढकेलते रहते हैं। और दूसरी बात मैं कह रहा हूँ कि मन पर आजतक जितने प्रभाव पड़े हैं उनका कुल सामर्थ्य जोड़ भी लिया जाए, तो वो भी आत्मा के सामर्थ्य के आगे कुछ नहीं।

तो तुम आत्मिक रूप से, हार्दिक रूप से बढ़ो किधर को भी, मन आएगा छाया की तरह पीछे-पीछे। मन की औक़ात नहीं कि वो चूँ-चपर करे। चूँ-चपर कर भी रहा है तो करने दो, पीछे तो उसे आना ही पड़ेगा। आगे मैं कुछ नहीं बोलूँगा, चलो चुपचाप पढ़ाई करो।

प्र२: मेरे पिताजी ने कम्प्यूटर साइंस से ग्रेजुएशन कराया था मुझे, जिसे करने में मेरा मन नहीं लगा। फिर मैं योग के क्षेत्र में मास्टर्स की डिग्री हासिल करने में लग गया। पिछले चार वर्षों से योगशिक्षा दे रहा हूँ, लेकिन फिर भी बहुत सफलता नहीं मिली है। ख़ास आमदनी भी नहीं होती है। इस स्थिति में मैं क्या करूँ? मेरे लिए अगला क़दम क्या है?

आचार्य: जगत को कुछ ऐसा दोगे जो उसके लिए वास्तव में मूल्यवान हो और उसको समझा भी पाओ कि क्या मूल्य दे रहो हो तुम, तो जगत तुमको वो देगा जिसको तुम सफलता इत्यादि बोलते हो। या फिर तुम जगत को बुद्धू बनाने लग जाओ, तो भी जगत तुमको सफलता दे देता है। तो जो ये तथाकथित सफलता है, ये दो ही तरीक़ों से आती है।

अच्छा है कि तुम सही तरीक़ा चुनो, लोगों को वो दो जो वास्तव में मूल्य रखता है। जो विधियाँ योग इत्यादि की तुम सिखा रहे हो, देखो कि लोगों को क्या उससे वास्तव में लाभ हो रहा है। लाभ हो रहा होगा तो वो क्यों नहीं तुम्हारे पास लौटकर आएँगे? क्यों नहीं तुम्हारा काम आगे बढ़ेगा?

पर दूसरी बात और भी देखो। लोगों को पता भी चलना चाहिए कि उन्हें लाभ हो रहा है। क्या तुम ठीक से इस बात को सम्प्रेषित कर पा रहे हो? बता पा रहे हो कि लोगों को लाभ हो रहा है? कई बार देना ही काफ़ी नहीं होता, जताना भी पड़ता है, समझाना भी पड़ता है कि क्या लाभ हुआ, क्योंकि जिसको लाभ दे रहे हो, वो हो सकता है कि इस स्थिति में ही न हो कि लाभ को समझ पाये।

अगर हठयोग की तुम बात कर रहे हो, तो उसमें ऐसा होगा नहीं, क्योंकि लाभ बहुत स्पष्ट और स्थूल होता है। दैहिक तल पर होता है, दिख ही जाता है कि शरीर को लाभ हुआ है। कुल मिला-जुलाकर तुमने जो क्षेत्र पकड़ा है, वो तो अच्छा ही है। उसमें या तो अपनी प्रवीणता, अपनी योग्यता को बढ़ाओ, या फिर लोगों को समझाओ कि तुम योग्य तो हो ही, बात बस कम्युनिकेशन (संचार) की है।

आज के समय में जब तन-मन मनुष्य के दोनों बेकार, बीमार होते ही जा रहे हैं, उस समय में यदि कोई कहे कि योग जैसी साधना सिखाने के बावजूद उसे मूल्य-महत्व नहीं मिल रहा है, तो इसका मतलब जो सिखाया जा रहा है अभी

उसमें ही प्रवीणता नहीं है। और गहराई से अपने क्षेत्र में प्रवेश करो। जो तुम्हारे सामने सीखने वाले शिष्य, साधक आते हैं, उनसे और गहरे सम्बन्ध स्थापित करो। मात्र सिखाओ ही नहीं, समझाओ भी।

प्र३: मेरी मनोस्थिति अभी ये है कि न ही मुझे संसार में फैले हुए इस जाल का ज्ञान है और न ही मुझे गुरु के वचनों की पूरी समझ है। हाँ, एक आकर्षण ज़रूर है गुरु के व्यक्तित्व के प्रति। क्या ऐसा करना सही रहेगा कि गुरु को ही एक उदाहरण मानकर, उनपर विश्वास रखकर ही मैं चल पड़ूँ और वही चीज़ मुझे आख़िर तक ले जाएगी?

आचार्य: हाँ, बिलकुल हो सकता है, लेकिन अगर गुरु को उदाहरण बना रहे हो तो फिर उसमें अपनी मान्यताएँ और अपना व्यक्तित्व बीच में मत लाना। गुरु को तुमने उदाहरण बनाया, गुरु तुम्हारे सामने कई तरह के उदाहरण रखते हैं। वो कभी नहीं कहेंगे कि मुझसे या मेरे निजी व्यक्तित्व से ही चिपककर रह जाओ। वो तुमसे सब चाँद-तारों की बात करेंगे, उनकी ओर भी देखना।

क्योंकि कई बार इसमें हमारा स्वार्थ भी छुपा होता है कि बस हम 'गुरु' नामक एक ही व्यक्ति की ओर देखेंगे। उस व्यक्ति की भौतिक सीमाएँ होती हैं, उस व्यक्ति की एक स्थिति होती है, उस स्थिति में वो हो सकता है कि भौतिक रूप से सर्वांग-सर्वगुण सम्पन्न न हो, तो इससे गुरु को आदर्श बनाने वाले को सुविधा हो जाती है।

हुए हैं कई सन्तजन, उदाहरण के लिए, जो शारीरिक रूप से ज़रा बेडौल थे। रामकृष्ण परमहंस के गुरु थे तोतापुरी महाराज। अब तुम देखोगे तो, उनकी थी इतनी बड़ी तोंद। अब तुम ख़ुद मोटे आदमी हो, तुमने कहा, 'मैं तो गुरु को ही उदाहरण बनाऊँगा', ये स्वार्थ की बात हो गयी न। तुमने गुरु पकड़ा ही इस दृष्टि से है कि जलेबियाँ चलती रहें।

तो ठीक है, तुम्हारी निष्ठा सम्माननीय है, सुन्दर है। तुम गुरु को ही उदाहरण बनाना चाहते हो, लेकिन फिर गुरु तुम्हें अन्य जिन उदाहरणों की ओर प्रेरित और प्रेषित करे, वहाँ जाने से इनकार मत करना।

आओ गुरु के पास, और फिर गुरु कहे, 'अब वहाँ जाओ', तो ये मत कहना कि इतनी तो मैं आपमें श्रद्धा रखता हूँ कि आप तक आ जाऊँगा लेकिन इतनी श्रद्धा नहीं रखता कि आप जिधर भेजेंगे उधर को चला भी जाऊँगा। ये बात बेईमानी की हो गयी। गुरु के पास आ रहे हो अगर, तो गुरु जब दूर भी भेजे तो दूर भी चले जाओ। जिस दिशा भेजे उस दिशा चले जाओ। ये मत पूछो कि उस दिशा में मिलेगा क्या।

ठीक है?

प्र४: अध्यात्म जीवन में अवतरित होने के बाद सांसारिक और पारिवारिक कार्यों में मन नहीं लगने का क्या समाधान

है?

आचार्य: सांसारिक-पारिवारिक कार्यों से मन नहीं उठ जाता अध्यात्म की वजह से। अध्यात्म की वजह से बेवकूफ़ी से मन उठ जाता है।

अध्यात्म का बिलकुल विरोध नहीं है संसार-परिवार-समाज से। अध्यात्म तो जीवन को सच्चाई और सौंदर्य देने का विज्ञान है। अध्यात्म का विरोध है, तो बेवकूफ़ी से। जहाँ कहीं भी मूर्खता होती है, विवेकहीनता होती है, छद्म षडयंत्र होते हैं, छल और प्रपंच होते हैं, अज्ञान का अंधेरा होता है, अध्यात्म उसपर रोशनी डालता है, उन सबको ख़त्म कर देता है अध्यात्म।

अध्यात्म का काम है सच्चाई को, निर्भीकता को, सुन्दरता को आगे बढ़ाना।

लेकिन ये सुनने को खूब मिलता है कि जब से जीवन में अध्यात्म आया है, तब से परिवार में समस्याएँ बढ़ गयी हैं, इत्यादि। अध्यात्म तो बेवकूफ़ी के ख़िलाफ़ है। अध्यात्म जीवन में आया, परिवार में समस्याएँ बढ़ गयीं, इससे क्या बात समझ में आती है? इससे तो यही पता चलता है कि परिवार बेवकूफ़ियों का अड्डा था, और है। तो अध्यात्म आया नहीं कि बेवकूफ़ियों पर चोट पड़ रही है करारी।

पेट में कीड़े हों और तुम कीड़े मारने की दवाई खाओ, और भीतर से आवाज़ आये ज़ोर से, 'अरे! ये दवाई बड़ी घातक है, ये तो मार ही डालेगी', तो क्या ये तुम्हारी आत्मा की आवाज़ है? ये कीड़ों की आवाज़ है। वो दवाई शरीर के लिए घातक नहीं है, वो दवाई कीड़ों के लिए घातक है।

तो अध्यात्म कीड़े मारने वाली दवाई है। उससे अगर किसी को तकलीफ़ हो रही है, तो वो कीड़ा है। बल्कि कीड़ा कौन है ये जानने के लिए अध्यात्म सर्वोत्तम विधि है। जिनको अध्यात्म से तकलीफ़ होती है, वो ही कीड़े हैं।

अध्यात्म ताप है। मोम के पुतले खड़े हों और लोहे के पुतले खड़े हों, अध्यात्म आग है, जला दो आग, जो पिघलने लगे और हाय-हाय करने लगे, जान लेना यही नकली है, यही मोम का था। अन्यथा तो पता ही नहीं चलता। दूर से देखो तो यही लगेगा कि मोम पुतला भी लकड़ी का है, लोहे का है, तांबे का है, किसी भी रंग में रंग सकते हैं उसको।

पर अध्यात्म तो आग है, लपट है, उसके सामने मोम त्राहिमाम शुरू कर देता है। अब कीड़े भीतर से चिल्ला रहे हैं, 'अरे, अरे, ज़हर खा लिया है तुमने। अब मरोगे!' तो कीड़ों की सुन मत लेना। कीड़े अपने स्वार्थ के लिए तुम्हें भटका रहे हैं। तुम नहीं मरोगे। ज़हर नहीं खा लिया तुमने, तुमने दवा खायी है।

परिवार में सच्चाई होनी चाहिए, रिश्तों में मधुरता होनी चाहिए, रस होना चाहिए, प्रेम होना चाहिए, निष्कामता होनी चाहिए। उसकी जगह पारिवारिक रिश्ते अगर भ्रम पर, मोह पर, स्वार्थ पर, कामनाओं पर आधारित हैं, तो अध्यात्म से उन रिश्तों पर चोट तो पड़ेगी न।

और याद रखना —

अध्यात्म रिश्तों की कालिमा, मलिनता, कलुष के ख़िलाफ़ है, रिश्तों के ख़िलाफ़ नहीं है।

ये भी बड़ा भ्रम व्याप्त है समाज में कि साहब, अध्यात्म तो रिश्ते तोड़ देता है। नहीं, रिश्ते नहीं तोड़ देता है अध्यात्म। अध्यात्म रिश्तों की सफ़ाई करता है।

अध्यात्म रिश्तों की सफ़ाई करता है, मैल हाय-हाय करके चिल्लाती है कि बर्बाद हो गये, बर्बाद हो गये। मैल ही बर्बाद हुई है, कीड़े ही बर्बाद हुए हैं, मोम का पुतला ही पिघला है। लोहे के पुतले नहीं पिघले, शरीर को हानि नहीं हुई। वस्त्र को हानि नहीं हुई है, मैल को हानि हुई है। वस्त्र तो अब निखर कर, चमक कर सामने आएगा।

जो रिश्ते आध्यात्मिक बुनियाद पर बनते हैं, उनसे प्यारे रिश्ते दूसरे होते हैं क्या? और जो रिश्ते आध्यात्मिक बुनियाद पर नहीं हैं, उनके साथ तुम जी कैसे लेते हो, बताओ? वो रिश्ते नहीं होते, वो रक्त-पिपासु कीड़े ही होते हैं फिर, जो तुम्हारी आँत के भीतर पल रहे हैं बस, और ख़ून पीना चाहते हैं।

रिश्ते तोड़ने की कोई बात नहीं है। सन्तों के रिश्ते तो पूरे संसार से बन जाते हैं। अध्यात्म अगर रिश्ते तोड़ने का खेल होता, तो सन्त क्यों कहते, 'पूरा ब्रह्माण्ड ही हमारा परिवार है'? अध्यात्म तो रिश्ते बनाता है, रिश्ते जोड़ता है — सुन्दर तरीक़े से, साफ़ तरीक़े से।

प्र५: प्रणाम, आचार्य जी। कुछ समय पहले मुझे आपके दर्शन-सत्संग का लाभ मिला था। तब आपने मुझे नेति-नेति एवं शास्त्र अध्ययन के लिए प्रेरित किया था। मैं पूर्ण प्रयास से दोनों कर रहा हूँ। बहुत से व्यक्ति, वस्तुएँ, विचार सहज ही छूट रहे हैं। शास्त्र अध्ययन से अब मुझे यह आभास स्पष्टता से मिल रहा है कि आप एवं सभी शास्त्र एक ही हैं। प्रश्न उठने कम हुए हैं, बल्कि अब तो कोई प्रश्न उठता ही नहीं। और जैसा है, उसका स्वतः शास्त्रों से सहज उत्तर मिल जाता है।

आगे यहाँ से मेरे लिए क्या मार्गदर्शन है, कृपया बतायें।

आचार्य: ठीक जा रहे हो, बस चलते रहो। अभी जहाँ पहुँचे हो, उसको बस शुरुआत भर मानो। शास्त्र अनन्त राशि हैं। जितना उनमें गहरे जाओगे उतनी उनमें सम्पदा पाओगे। शुरुआत में ही लाभ होने लगा है, लक्षण बहुत शुभ है। अब आगे बढ़ते रहो। जितना मिला है, उससे सन्तुष्ट होने की कोई बात नहीं, बहुत है अभी पाने को।

प्र६: आचार्य जी, आपके मार्गदर्शन के अनुसार मैं कुछ समय से बैडमिंटन खेल रहा हूँ। कल शाम मुझे कुछ रुचि हुई और मैंने गूगल सर्च करके देखा, तो मैंने कहीं पढ़ा कि शटल कॉक (बैडमिंटन खेलने वाली चिड़ी) बनाने के लिए पक्षियों की हत्या की जाती है। यह पढ़कर मैं बहुत उदास हुआ। क्या मुझे यह खेल अब आगे खेलना चाहिए?

आचार्य: तुम ये जो बात बता रहे हो, ये आज से दशक-दो-दशक पहले की है। बहुत दिनों से मैंने बैडमिंटन खेला नहीं है, इसीलिए शायद ठीक-ठीक ब्यौरा न दे पाऊँ, लेकिन थोड़े से पैसे अगर और खर्च करोगे तो अर्टिफिशियल (कृत्रिम) शटल कॉक आती हैं अब, प्लास्टिक या किसी अन्य पदार्थ की बनी हुई। वो चलती भी ज़्यादा हैं। पर मुझे लग रहा है कि वो थोड़ी महँगी होती होंगी।

देखो, आदमी के रचे जितने खेल हैं, उनमें आदमी की बीमारियाँ और वृत्तियाँ भी परिलक्षित तो होती ही हैं। अब क्रिकेट खेलते हो आप, उसमें जो गेंद होती है वो चमड़े की होती है। बल्ला लकड़ी का होता है। विकेट भी लकड़ी के हुआ करते थे, अब शायद लकड़ी के नहीं होते हैं। गिल्लियाँ भी लकड़ी की होती थीं, अब शायद लकड़ी की नहीं होती हैं। तो ये सब जिस समय की खोज हैं, उस समय की सब बीमारियाँ और दुर्गुण भी इन खेलों में दिखायी तो देंगे ही न।

बैडमिंटन खेलते हो तुम, रैकेट पर जो पट्टा लगा होता है, वो भी मैं समझता हूँ कि किसी समय में चमड़े का ही होता था। अब धीरे-धीरे चीज़ें बदलेंगी। लेकिन फिर भी ये पक्का ही है कि आदमी ने जो कुछ भी आविष्कृत किया है, उसमें आदमी की बीमारियाँ भी सम्मिलित हो ही जाती हैं।

लोहे का खनन नहीं होगा या एलुमिनियम का खनन नहीं होगा, तो बैडमिंटन का रैकेट बनना बड़ा मुश्किल है। इसी तरीक़े से हम प्लास्टिक से होने वाले ख़तरों की बात करते हैं — बैडमिंटन रैकेट का जाल, बैडमिंटन की शटल, रैकेट के तार, मैं समझता हूँ इन सबमें आज भी प्लास्टिक का प्रयोग तो हो ही रहा है।

तो खेलों की उपयोगिता है, निश्चित रूप से है। खेलना चाहिए। लेकिन हाँ, एक बिन्दु आता है जब दिखने लगता है कि अगर खेल आदमी ने रचा है, आदमी ने ईजाद किया है, तो उसमें आदमी के दुर्गुण भी हैं। खेल में ही हैं, खेल की रचना में ही हैं।

हमारे खेल, देखते नहीं हो, एक दूसरे को पछाड़ने के खेल हैं? हम खेलते समय भी एक-दूसरे को पछाड़े बिना नहीं

खेल सकते। अब कहने को खेलने गये हैं, लेकिन वहाँ भावना यही है कि दूसरे पर भारी पड़ें।

हमारा ऐसा कोई खेल है ही नहीं जो प्रेम का हो। हमारा ऐसा कोई खेल है ही नहीं जिसमें हारकर जीता जाता हो। हमारा कोई खेल है ही नहीं जिसमें तुम्हें अंक इस बात के मिलेंगे कि तुमने डूबते को सहारा कितना दिया।

हमारे खेल सारे यही हैं कि पटक कर मारो, बचना नहीं चाहिए। और कुछ तो ऐसे ही हैं कि मुँह पर मुक्का पड़ना चाहिए, तभी अंक मिलेंगे। और इतनी ज़ोर से मारो कि गिर ही पड़े, दोबारा उठे ही नहीं, तो नॉक-आउट मिल जाएगा, बढ़िया!

हम ही ने रचे हैं न, तो हमारे ही जैसे हैं। हम जैसे, वैसे हमारे खेल। पर तुम अभी खेलो। अभी खेलो। अभी इतना आगे नहीं बढ़े हो तुम कि सब खेलों की निरर्थकता तुमको दिखने लग जाए।

ज़रा अट्ठारह-बीस साल के हो जाओ, तब मैं देखूँ कि तुम अन्य खेलों में फँस रहे हो या नहीं। जब देखूँगा कि तुम किसी खेल में नहीं फँस रहे हो, तब मैं कहूँगा, ‘तुम चिड़िया को भी छोड़ दो।’ अभी तो बहुत चिड़ियाएँ आएँगी, उनको छोड़कर दिखाओ पहले। फिर शटल कॉक को छोड़ने की बात करना।

ये चिड़िया और कॉक का खेल तो अभी शुरू होना बाक़ी है तुम्हारी ज़िंदगी में। उससे ऊपर उठे तो फिर ये रैकेट भी छोड़ना। नहीं तो गड़बड़ हो जाएगी। गहरी वृत्ति बची रहेगी, ऊपर-ऊपर की चीज़ें छोड़ दोगे। उससे कोई लाभ नहीं होगा।

भारत ज़्यादातर क्षेत्रों में इतना पीछे क्यों?

प्रश्नकर्ता: नमस्कार, सर। मैं एक प्रशिक्षित आर्किटेक्ट (वास्तुकार) हूँ। मैंने क़रीब चार-पाँच साल तक प्रैक्टिस (अभ्यास) की है। जब से मैंने आपको सुनना शुरू किया, तो कुछ समय के बाद सस्टेनेबल आर्किटेक्चर (टिकाऊ वास्तुकला) में मैंने काम करना शुरू किया। जब मैंने ये काम किया तो लगने लगा कि कुछ चीज़ें हैं जिनमें कमी आ

रही है।

उदाहरण के लिए, ख़ुद में एक्सिलेंस (उत्कृष्टता) की तरफ़ पुलक नज़र नहीं आ रही थी। मैंने थोड़ा अवलोकन किया और पाया कि मूलतः ये कमी सिर्फ़ मुझमें नहीं है। मैंने देखा आजू-बाजू, समाज में बचपन से ही ये सिखाया नहीं गया था और साथ में स्कूल-कॉलेज में भी इतना इस चीज़ पर ध्यान नहीं दिया गया था कि इसकी ओर जाना चाहिए।

फिर आगे देखा तो अपने साथी, दोस्त, सर्कल (मंडली) में भी ये (उत्कृष्टता) काफ़ी कम ही देख पाया। तुलना करने पर दिखता है कि इसका इंडिया में ही काफ़ी अभाव है। जो विकसित राष्ट्र हैं या कई और समाज हैं वहाँ पर काफ़ी हद तक देखा जाता है कि कोई भी क्षेत्र हो —साइंस हो, आर्ट्स हो — उसमें एक्सिलेन्स की ओर काफ़ी रुझान होता है।

तो ये समझ में नहीं आता है कि इतना क्यों वेरिएशन (अन्तर) है और एक्सिलेन्स की तरफ़ एक जो पुलक होनी चाहिए उसका हमारे समाज में अभाव क्यों है?

आचार्य प्रशांत: वर्ल्डली (सांसारिक) एक्सिलेन्स कह रहे हो न?

प्र: जी।

आचार्य: दुनिया के कामों में?

प्र: जी।

आचार्य: आर्किटेक्चर में नहीं दिखायी देती?

प्र: जी, सामान्य रूप से हर क्षेत्र में देखा गया है। मेरे दोस्त भी कुछ-न-कुछ करते ही हैं, पर वो (उत्कृष्टता) है ही नहीं। उनका भी ऐसा है कि काम चलाने के लिए इतना करना है, तो हो गया। इतना ख़र्चा चल रहा है, बस मौज की *लाइफ़*। तो उससे ज़्यादा कुछ दिख नहीं रहा है।

आचार्य: तो इसी बात को मैं और विस्तृत करके सोचूँ तो हमारी फ़िल्में बनती हैं वो कथानक के तल पर, टेक्नोलॉजी (तकनीकी) के तल पर, संगीत के तल पर, मौलिकता के तल पर विदेशी फ़िल्मों से पीछे ही रहती हैं, ज़्यादातर। हमारी टेक्नोलॉजी विदेशी टेक्नोलॉजी की टक्कर में नहीं खड़ी होती, हमारे बिज़नेस (व्यवसाय) विदेशी बिज़नेस से कम्पीट (स्पर्धा) नहीं कर पाते। कोई प्रतिस्पर्धा में कहीं टिकते नहीं हैं।

ओलंपिक्स में हम जाते हैं — हम एक-सौ-बयालीस-करोड़ का देश हैं — और हमें एक-आध मेडल (पदक) मिल जाए तो ऐसा लगता है बड़ी बात हो गयी। उनके शहरों की अपेक्षा हमारे शहर गंदे हैं, प्रदूषित हैं, बिलकुल अनियोजित हैं, बिखरे हुए हैं; तो एक्सिलेन्स , उत्कृष्टता कहीं दिखायी नहीं देती है।

यहाँ तक कि रक्षा के क्षेत्र में भी हमारा दो-तिहाई, जाने तीन-चौथाई, जो रक्षा सामग्री है, हमें उसको आयात करना पड़ता है। भारतीय सेना के पास आयुध हैं, उपकरण हैं उसमें से बहुत बड़ा प्रतिशत है ऐसी सामग्री का जो ऑउटडेटेड (पुराने ढंग का) है। क्योंकि हम अपना कुछ तैयार नहीं कर पा रहे हैं उस गति से जिस गति की आवश्यकता है।

बाज़ार में कोई भी सेगमेंट (खंड) हो, उसमें जो सबसे बड़े ब्रांड होंगे, सम्भावना यही है कि या तो वो विदेशी हैं या अगर देशी भी हैं तो उन्होंने विदेशी कोलैबोरेशन (सहयोग) करके बाहर से टेक्नोलॉजी ली है। सड़कों पर भी देखो तो एक-दो ब्रांड्स को छोड़कर सब आपको विदेशी ही नज़र आते हैं। ख़ासतौर पर जितनी आप उत्कृष्ट गाड़ी चाहो वो तो विदेशी ब्रांड ही मिलेगा। साधारण गाड़ी तो फिर भी हो सकता है आपको भारतीय मिल जाएगी।

तो ये क्यों है? क्यों है ऐसा? अब क्या बहाना दें, संसाधन की कमी का दें? ये बोलें कि अंग्रेज़ों ने ऐसा कर दिया। अब तो आज़ाद हुए भी बहुत-बहुत समय बीत गया। नहीं? क्या बात है? दुनिया में तब तरक़्क़ी करोगे न, दुनिया में प्रवीणता तब हासिल करोगे न जब पहले दुनिया को महत्त्व दो।

देखो, क्या होता है? एक होता है साधारण आदमी — जैसे पश्चिम का मन है। उसको वेदान्त वगैरह कभी मिला नहीं, तो उसने वही देखा जो उसको दिखायी दिया। उसको ये दिखायी दिया कि दुनिया सच है। तो उसने कहा फिर ठीक है, 'दुनिया में ही बेहतरी करते हैं, दुनिया में ही तरक़्क़ी करते हैं अच्छे शहर, अच्छी सड़कें, अच्छे अस्पताल, अच्छी कम्पनियाँ, अच्छी *टेक्नोलॉजी*— ये सब बनाते हैं।' ये एकदम उन्होंने एक साधारण मन से करा और इसमें उनको सफ़लता भी मिल गयी।

भारत के साथ एक दुर्घटना हो गयी। दुर्घटना ये हो गयी कि यहाँ कुछ असाधारण लोग हो गये और उन असाधारण लोगों ने ये जान लिया कि ये जिसको तुम दुनिया कहते हो, ये वो चीज़ नहीं है जो तुम्हें लग रही है। तो इस बात को उन्होंने कुछ सूत्रों में पिरो करके बड़े संक्षिप्त रूप में हमारे सामने रख दिया कि जगत मिथ्या और ये तन-मन वगैरह सत्य (आख़िरी) नहीं है — उन्होंने ये बात बता दी।

अब ये बात उनके ज्ञान से उपजी और उनके प्रेम के कारण फैल गयी। उनमें बड़ी करुणा थी तो उन्होंने ये बात

सबको बता दी। उन्होंने कहा, 'बिलकुल एकदम हीरे जैसी बात पता लग गयी है, तो अपने तक क्यों रखें?' तो उन्होंने जनमानस में ये बात फैला दी। पर जनमानस बड़ा नाक़ाबिल उत्तराधिकारी निकला उनकी बात का।

उन्होंने तो ये बात हमें इसलिए बतायी थी, ताकि हम दुनिया में बँध कर न रह जाएँ, ताकि हम दुनिया को ही अपना आख़िरी लक्ष्य न बना लें। उन्होंने बताया था कि ये जो जगत है ये मिथ्या है और तन-मन की ही सेवा करने के लिए नहीं पैदा हुए हो तुम। मैं हमारे दार्शनिकों, ऋषियों, मनीषियों की बात कर रहा हूँ। उनको कह रहा हूँ, 'वो असाधारण लोग थे, जिन्हें कुछ बहुत असाधारण बात पता चली — जो पश्चिम को कभी पता नहीं लगने पायी — तो उन्होंने प्रेमवश हमें ये बात बता दी।

उन्होंने ये कहकर बतायी कि दुनिया की ही चीज़ें हासिल करने को ज़िंदगी का लक्ष्य मत बना लेना। हाँ, दुनिया का उपयोग करो संसाधन की तरह, ताकि दुनिया से मुक्त हो जाओ। तो उन्होंने ये दोनों बातें इकट्ठे बोली थीं; एक ही वाक्य में। 'दुनिया को लक्ष्य नहीं बनाना है, लेकिन दुनिया का भरपूर उपयोग करना है संसाधन की तरह। जगत से भागना नहीं है, जगत में ही संघर्ष करना है, जगत से ही मुक्त होने के लिए।'

ठीक है?

हमने उनकी बात का पहला हिस्सा पकड़ लिया। हम कह रहे हैं न, हम बड़े नाक़ाबिल उत्तराधिकारी निकलें उनके, हमने उनकी बात का पहला हिस्सा पकड़ लिया। पहला हिस्सा क्या है? कि ये जगत तो मिथ्या है। और उनकी बात का जो दूसरा हिस्सा था कि जगत का तुम भरपूर इस्तेमाल करो मुक्ति के लिए, जगत से ही आगे निकलने के लिए, उस बात को हमने बड़ी सुविधा से आया-गया कर दिया, किनारे रख दिया।

तो भारत में बच्चा-बच्चा कहीं-न-कहीं ये बात मन में रखे हुए है कि अरे! ये दुनिया में रखा क्या है? जगत तो मिथ्या है, दुनिया फानी है। पानी का बुलबुला है, अभी फट जाएगा, इसमें क्या रखा है? और ये बात उत्कृष्टता की धुर विरोधी होती है।

'करना क्या है सड़क को साफ़ रख करके? अरे! एक दिन तो तुम्हारी चिता को भी बस धूल बनकर रह जाना है, तो सड़क पर धूल पड़ी हुई है तो क्या हो गया?' यहाँ हर आदमी दार्शनिक हो गया है; एकदम अन्तिम सत्य की बात करता है। तो सड़क गन्दी पड़ी हुई है।

आप किसी को डाँटिए — 'तेरा कमरा इतना गन्दा है, क्या है ये ऐसे सब?' बोलता है, 'अरे! एक दिन तू भी ख़ाक में पड़ा होगा बन्दे, क्यों इतरा रहा है?' और एकदम आप निस्तब्ध रह जाएँगे। कहेंगे, 'ये क्या बात कर रहा है? मैं कह रहा हूँ, तेरा कमरा ऐसा पड़ा हुआ है, इसमें प्लेग फैल जाएगा और ये मुझे बोल रहा है, 'बन्दे! तू भी ख़ाक हो जाएगा,

क्यों इतना इतरा रहा है?'

तो भारत में हर आदमी फिलोसोफर (दार्शनिक) हो गया और इसी तरह का ज्ञान बाँटने लग गया चौराहे पर। किसी को बोलो कि भाई! थोड़ा दौड़ लिया कर, क्या तूने ये अपनी सेहत बना रखी है? हाथ-टाँग तेरे इतने पतले-पतले और तोंद इतनी बड़ी तेरी निकली हुई है, कुछ कर ले। वो बोलेगा, “नाहं देहास्मि।” ‘मैं देह हूँ ही नहीं, तो मुझे फिर देह को अच्छा रखना क्यों है?' देह को अच्छा रखने का काम सब पश्चिम वालों का है।

तो भारत में आप आइए तो यहाँ सब बिलकुल जितने गम्भीर लोग हैं और सम्माननीय लोग हैं, सारे अंकल जी ऐसे घूम रहे होते हैं (ऊपर, शून्य में देखने का अभिनय करते हुए) — 'फ़र्क क्या पड़ता है? देह क्या है? देह तो मिथ्या है, तो देह को अच्छा क्यों रखना है? और ये जगत भी तो देह जैसा है, क्योंकि भौतिक है, तो जगत में भी कुछ हासिल क्या करना है?

‘अरे! क्या करोगे बहुत अच्छी कार बना करके? काम तो मारुति एट हंड्रेड में भी चल ही रहा है न! एक जगह से दूसरी जगह ही तो जाना है, शमशान तेरा आख़िरी ठिकाना है, शमशान तक तो मारुति एट हंड्रेड भी पहुँचा ही देगी — अक्सर वहाँ पहुँचाती है।'

तो करना क्या है कि एकदम स्टेट ऑफ़ द आर्ट (नवीनतम तकनीकी से पूर्ण) कार बनायी जाए, क्यों बनाएँ? वो सब जर्मनों के लिए छोड़ दो न — मर्सिडीज़, बीएमडब्लू — ये सब वो देख लेंगे। भारत के लिए तो इतना काफ़ी है कि चार पहिये, कई बार तीन पहिये भी चलते हैं।

'देखो, हम तो कम में गुज़ारा करते हैं। भारतीय हैं, मितव्ययी हैं, शिकायत वगैरह बहुत नहीं करते हम, क्योंकि शमशान तेरा आख़िरी ठिकाना है। वहाँ जाकर बोलेगा क्या? चार पहियों की नहीं, तू तो चार कंधों की सुध कर बन्दे, अन्त में वही काम आएँगे। पहियों पर चढ़ के नहीं जाएगा तू कंधों पर चढ़ के जाएगा।'

क्या बात है! बढ़िया दर्शन सुना दिया।

बिलकुल कोई असफल है, ख़त्म, कुछ नहीं करना आता, कहीं मेहनत करी नहीं, कुछ सीखा नहीं, उससे आप बहुत बात करो, वो कहेगा, ‘इस दुनिया में सफलता का मतलब क्या है? यहाँ कौन सफल हो सका है? सिकंदर बहुत सफल हुआ था? मरा था तो मुट्ठी खुली हुई थी, ऐसे, तब भी भिखारी था। हमने कुछ नहीं कमाया तो क्या हुआ? सिकंदर भी हमसे बेहतर नहीं था।’

समझ में आ रही है बात?

गीता को भी बना लिया कि ये तो उनका ग्रन्थ है जिनके बारे में सबसे महत्वपूर्ण चीज़ है ‘नाचना-गाना'। और ये बड़े-से-बड़ा दुर्भाग्यपूर्ण काम हुआ है भारत के साथ। नहीं तो गीता पर्याप्त होती।

गीता ऐसी आग है कि एक बार आपको पकड़ ले, आप बच नहीं सकते राख होने से — सारी आपकी कमज़ोरियाँ, आपके बहाने, ये जो मजबूरियाँ गिनाते हैं, सब जला देती है गीता। श्रीकृष्ण एक बात बोल रहे हैं बार-बार, “अर्जुन, खड़ा हो जा, धनुष उठा। कोई बहाना नहीं चलेगा, लड़!” गीता पर्याप्त हो जाती।

लेकिन जितने कृष्णपंथी हैं वो आपको नाचते-गाते मिलते हैं। मुझे समझ में नहीं आता है, मैं बार-बार पूछता हूँ, ‘अर्जुन को नचा रहे थे वो? अर्जुन को बोला था छोड़ ये सबकुछ, तू बाल मुंडा ले, चुदई धारण कर ले और नाचना शुरू कर दे — ये बोला अर्जुन को?’

मैंने कहा कि तुम अगर कृष्ण को मानते हो तो तुम्हें तो बड़े सक्रिय, घोर संघर्ष में नज़र आना चाहिए। उसकी जगह तुम बस एक काम करते हो, नाचते हो। ये तुम कौन-से कृष्ण को मानते हो भाई? कृष्ण का सन्देश तो घोर संघर्ष का है। और आज के युग में तो संघर्ष बहुत-बहुत ज़रूरी है — इतनी सारी राक्षसी ताक़तें खड़ी हुई हैं, इनसे तो लड़ जाना है, भिड़ मरना है इनसे तो। इनसे भिड़ने की जगह तुम बैठे हुए हो और गाने गा रहे हो, ये कर क्या रहे हो तुम? कृष्ण ने अर्जुन को बोला था ये? ज़रूरत क्या थी फिर?

अर्जुन यही तो चाहते थे कि कुछ गाने-नाचने को बोल दीजिए, वो हम कर लेंगे, पर हम लड़ेंगे नहीं, मारेंगे नहीं किसी को। अर्जुन तो बहुत ख़ुश हो जाते अगर कृष्ण बोलते कि तू बाज़ार में निकल जा और नाच। वहाँ क्या बोल रहे हैं —

‘मोह हटा, भय हटा, भ्रम हटा, किसी की मत सोच, बस मेरा मुँह देख और भिड़ जा!’

भारत ने गीता को भी अपने लिए अनुपयोगी बना लिया। संघर्ष भारत करता ही नहीं, बस घुटने टेक देता है आसानी से।

स्पोर्ट्स (खेल) तक में ये देखने को मिलता था। हॉकी में बहुत होता था — मैं हॉकी ख़ूब देखता था — आख़िरी पाँच मिनट में भारतीय टीम गोल न खाये ऐसा हो नहीं सकता — जीते हुए मैच हारते थे। अभी वर्ल्ड कप से बाहर हुए न्यूज़ीलैंड से हार के। ये भी जीता हुआ मैच था। कौन-कौन हॉकी देखता है? वो मैच जीते हुए थे कि नहीं? पूरा जीता हुआ मैच था और उससे पहले भारत एक भी मैच हारा भी नहीं था, एक ड्रा हुआ था बस इंग्लैंड से। स्पेन को जो कि अच्छी टीम है उसको हराया था और न्यूज़ीलैंड नीचे की टीम है काफ़ी, उससे हार गये।

अब भारतीय टीम इस वक़्त अभी अच्छी है, रैंकिंग भी चौथी या पाँचवीं है, ओलंपिक में मैडल लेकर आये हैं अभी; हार गये, बाहर हो गये। ये भारतीय हॉकी के साथ लगातार चल रहा है। संघर्ष! कभी कई-कई बार तो आख़िरी मिनट में गोल खाकर हारे हैं कि जीत रहे थे, जीत रहे थे, आख़िर मिनट में गोल खाकर हार गये।

'क्या बहुत भिड़ना! जगत क्या है!' वो जो होता है न जानवर की तरह जूझ जाना, वो हम भूल गये, एकदम भूल गये। ख़याल ही मत करो कि शरीर बचेगा कि नहीं बचेगा। प्राण एक तरफ़ रखो और पकड़ लो गला सामने वाले का भले ही तुमसे तीन गुना क्यों न हो। हम बिलकुल भूल गये। हम नचैये-गवैयों का देश बन गये। वो भी अच्छा नाचते-गाते भी नहीं। उनको अभी नाचने-गाने की प्रतिस्पर्धा में भेज दो, वहाँ भी हार जाएँगे।

आप ग़ौर से देखिएगा तो पाकिस्तान भारत से आठ गुना छोटा देश है। जनसंख्या में कुल उत्तर प्रदेश बराबर जनसंख्या है उसकी और भारतीयों के लिए बड़े-से-बड़ा जलवा पाकिस्तान बना रहा। ये अपनेआप में शर्म की बात होनी चाहिए न? तुम किसको अपना बहुत बड़ा शत्रु मान रहे हो? जो जनसंख्या में तुमसे एक-बटा-आठ है। जितना बड़ा उत्तर प्रदेश है जनसंख्या में उतना ही बड़ा पाकिस्तान है, बस! कुल इतना बड़ा पाकिस्तान है और भारतीयों के लिए सबसे बड़ा हौवा पाकिस्तान। 'पाकिस्तान से मैच है!' (चौंकने का अभिनय करते हुए)

'पाकिस्तान ने ये कर दिया, पाकिस्तान को ऐसा कर देंगे, पाकिस्तान को...' — तो वो कर भी दोगे तो कौनसा गौरव मिल गया? इतना सा तो है, पिद्दी वो, कौनसे गौरव की बात हो जाएगी पाकिस्तान को हरा भी दोगे तो? चीन, जो तुम्हारे बराबर का है बिलकुल। चीन की एक सौ बयालीस करोड़, तुम एक-सौ-बयालीस-करोड़, चीन, उसके सामने अपनी हालत देखो; वहाँ डरे-सहमे बैठे हो। बासठ में वो ले गया ज़मीन और अब पिछले एक-दो सालों में रोज़ ज़मीन लेकर जा रहा है चीन। और भारतीयों की हिम्मत नहीं कि चूँ कर दें।

सेना कहती है कि उसको आदेश है कि देखो, चीनियों को बुरा न लगने पाये। एक के बाद एक अपना पेट्रोलिंग पॉइंट (गश्त बिन्दु) खाली करते चलना, चीनी अन्दर घुसते आयें तो तुम पीछे हटते रहना। तब वहाँ पर हमारे नेताओं के मुँह से चीन का नाम नहीं निकल रहा — ये भारत है। संघर्ष भारत में बिलकुल ही नहीं दिखता। हाँ, कोई छोटा मिल जाए, कोई कमज़ोर मिल जाए, कोई दब्बू मिल जाए उसपर चढ़ बैठो! उसपर चढ़ बैठो।

और धर्म का अर्थ होता है उससे भिड़ना जो तुमसे कहीं-कहीं बहुत-बहुत ज़्यादा बड़ा है। जीवन मात्र से भिड़ जाना ये होता है 'धर्म'। धार्मिक आदमी अपने चुने हुए क्षेत्र में कभी फिसड्डी नहीं रह सकता; कभी नहीं। वो खेल में होगा तो उसकी हार में भी आप एक बड़ा गहरा संघर्ष देखेंगे। वो विज्ञान में होगा वो नयी-नयी उपलब्धियाँ लेकर आएगा।

वो युद्ध में होगा, मर सकता है; हार नहीं सकता। धार्मिक सेना हार जाए, सम्भव नहीं है। हाँ, मिट सकती है कि सब मारे गये, एक भी नहीं बचा, सब मारे गये; लेकिन हार के पीछे नहीं आएँगे, ऐसे नहीं होता।

भारत को हम हर क्षेत्र में पाते हैं कि पीछे-ही-पीछे, पीछे-ही-पीछे, क्या वजह है? यही वजह है न — सिद्धान्त उठा लिये, मर्म से चूक गये।

पश्चिम का सौभाग्य था उसको सिद्धान्त भी नहीं मिले, तो उसने कहा, 'मटेरियलिज़्म (भौतिकवाद) है। द वर्ल्ड इज़ रियल, द वर्ल्ड इज़ द ओनली प्लेस (दुनिया असली है, संसार ही एकमात्र स्थान है) और इसी दुनिया में जीना है, यहीं खाना है, यहीं पीना है' — उन्होंने अपनी दुनिया बेहतर बना ली।

भारत एकदम त्रिशंकु की तरह बीच में अटक कर रह गया। इस भौतिक दुनिया को कह दिया, 'ये तो मिथ्या है।' और जो मुक्ति की दुनिया है उस तक पहुँचने का न साहस दिखाया, न श्रम, न संघर्ष। न इस दुनिया के रहे, न मुक्ति के हो पाये। कहीं के नहीं रहे, "माया मिली न राम"। राम के प्रति निष्ठा नहीं दिखा पाये और माया ऐसों को मिलती नहीं जो संघर्ष न करे; दुनिया में भी जीतने के लिए मेहनत तो करनी पड़ती है भाई!

नतीजा देख लीजिए न। हम कहते हैं — उदाहरण के लिए — कि भारत का आर्य रक्त वही है जो मध्य एशिया का है, यूरोप का है, ईरान का है। यही कहते हैं न? अब भारतीयों की आप औसत ऊँचाई देखिए और ईरानियों की देखिए, या भारतीयों की देखिए और अफ़गानियों की देखिए; जबकि जेनेटिक पूल (आनुवांशिक एकत्रित नमूना) एक ही है। भारतीयों का औसत वज़न देखिए और रूसियों का देखिए या जर्मनों का देखिए या उतनी दूर नहीं जाना तो अफ़गानियों, ईरानियों का देखिए।

ये हमने क्या किया अपने साथ? "नाहं देहास्मि। मैं देह नहीं हूँ।" जब देह नहीं हो, तो क्या देह को ठीक करना? क्या खाना-पीना? क्या व्यायाम करना? हिन्दुस्तान में जितनी महिलाएँ एनीमिक (रक्ताल्पता) हैं; दुनिया में कहीं नहीं, लेकिन 'आइ एम् नॉट द बॉडी — मैं देह हूँ ही नहीं।'

कुछ दशकों पहले तक औसत चीनी का क़द औसत भारतीय से कम हुआ करता था; अब चीनियों का क़द भी भारतीयों से ऊपर निकलने लग गया है। देह का अपमान। देह माने दुनिया, देह माने भौतिक पदार्थ, उसका अपमान। 'क्या है? क्या फ़र्क पड़ता है? ठीक है।'

और उसी को हमारी भाषा में फिर कह देते हैं 'जुगाड़'। जुगाड़ क्या है? जुगाड़ एक तमाचा है उत्कृष्टता के मुँह पर — एक्सिलेन्स नहीं, जुगाड़। वही जुगाड़ हर जगह है। जुगाड़ करके हाई स्कूल पास कर लिया, जुगाड़ करके कॉलेज की भी डिग्री मिल गयी। जुगाड़ करके, सिफ़ारिश वगैरह करके नौकरी भी मिल गयी। प्रेम की पात्रता नहीं किसी

जवान आदमी में, तो अरेंज मैरिज (सुसंगत विवाह) के जुगाड़ से फिर भी उसको पत्नी मिल गयी — माने सेक्स मिल गया।

विवेकानंद उनकी पूरी बात में कहा करते थे — मैस्कुलिनिट (पौरुष) एक बड़ा केंद्रीय शब्द था — कहते थे, ‘इस देश को पौरुष की ज़रूरत है, पौरुष की, ये देश लगभग नपुंसक हो चला है, इसमें पौरुष जगाने की ज़रूरत है।’ ये ऐसा हो गया है बिलकुल। (सहमने का अभिनय करते हुए) घुग्घू बन गया है। साहस, श्रम, संघर्ष इसने भुला दिये हैं।

और बहाना बार-बार क्या दे देता है? ‘जगत मिथ्या।’ “नाहं देहास्मि।” ‘मैं देह नहीं हूँ, जगत मिथ्या है। आत्मा मात्र सत्य है।' और आत्मा कैसे होती है? 'आत्मा तो वो जब मर जाते हैं, फुर्र से उड़ जाती है, चिरैया, उसे आत्मा बोलते हैं। तो जब आत्मा सत्य है तो चलो जल्दी से मर ही जाते हैं।'

तो उन्नीस-सौ-सैंतालीस में, अभी बात कर रहे थे न कल ही कि कितनी होती थी औसत उम्र भारतीयों की? सत्ताईस साल। मर भी रहे थे फटाफट, जल्दी-जल्दी। काहे कि जगत तो नश्वर है, करना क्या है? छोड़ ही दो इस जगत को जल्दी से। कपड़े क्यों अच्छे होने चाहिए? अरे! आख़िरी वस्त्र तो शरीर है। जब शरीर का ही ख़याल नहीं रखना है, तो कपड़ों का क्यों ख़याल रखना? तो फटे, सड़े-गले, मैले कुछ भी पहन के घूमो, क्या रखा है?

पश्चिम एक अति पर चला गया ‘मैटेरिअलिज़्म’ और भारत ने बराबर की ग़लती करी, बल्कि ज़्यादा बड़ी ग़लती करी, वो बिलकुल दूसरी अति पर चला गया जहाँ मटेरियल का अपमान ही कर डाला बिना उसे समझे। जगत क्या है, ये जाने बिना, जगत का अपमान!

जिन्होंने आपको बताया कि सत्य क्या है? जगत क्या है? उन्होंने ये नहीं कहा कि जगत को छोड़ ही दो — दोहरा रहे हैं हम — उन्होंने जगत के बारे में क्या बोला? जगत का भरपूर उपयोग करो, जगत तुम्हारा रणक्षेत्र है, यहाँ पाना भले ही तुम्हें कुछ नहीं है, लेकिन लड़ना ज़रूर है — इसी को निष्काम कर्म कहते हैं। पाना कुछ नहीं है, लेकिन लड़ना ज़रूर है।

भारत ने लड़ने में भी इनकार कर दिया, घुटने ही टेक दिये। हमारी यूनिवर्सिटीज़ को देखो और बाहर की यूनिवर्सिटीज़ को देखो। टॉप (शीर्ष) दो-सौ यूनिवर्सिटीज़ दुनिया की, उसमें भारत की कोई यूनिवर्सिटीज़ नहीं। हमसे पीछे जो देश आज़ाद हुए और बहुत छोटे-छोटे देश जो आज़ादी के वक़्त हमसे भी ज़्यादा ग़रीब थे, उनकी यूनिवर्सिटीज़ आ गयी हैं टॉप दो-सौ में; हमारी नहीं हैं।

क्यों नहीं हैं? 'करना क्या है ओरिजिनल रिसर्च (मूल अनुसंधान) करके? ये पेटेंट (एकस्व) वगैरह चीज़ क्या है? कुछ

नहीं। रिसर्च से क्या होता है? कोई और कर रहा है न, हम उससे ले लेंगे।'

हिन्दी फ़िल्मों में गाने कैसे बनते थे, अभी बस दस-बीस साल पहले तक? क्योंकि तब इंटरनेट तो था नहीं, तो देशी लोगों को पता ही नहीं चलता था कि ये विदेशी गाना है। तो वहाँ जो भी गाना चल गया उसको उठा के यहाँ खट से गाना तैयार हो जाता था। कोई यहाँ का हिट (खूब प्रचलित) गाना पकड़ लो, वहाँ के किसी गाने की नक़ल होता था।

कहते हैं, 'देखो, माल न तेरा है, न मेरा है, जगत रैन बसेरा है — ये हमारे सन्तों की सीख है। तो तू क्यों इस माल पर अपनी आइपी, इंटेलेक्चुअल कॉपीराइट (बौद्धिक प्रतिलिप्याधिकार) वगैरह बता रहा है। कुछ नहीं है, तेरा भी नहीं है। ला मुझे उठा लेने दे। करा होगा तूने कुछ, मैं उसकी नक़ल कर लूँगा।'

समझ में आ रही है बात?

दुनिया के प्रति कामना नहीं रखनी है। लेकिन याद रखना है कि दुनिया में हो तो तुम बंधक के ही तौर पर, तो अपनी मुक्ति के लिए भरपूर संघर्ष करना है। दुनिया में निठल्ला और काहिल होकर नहीं बैठ जाना है। सही काम उठाना है और उसको पूरी उत्कृष्टता से कर के दिखाना है। सही लड़ाई चुननी है और जूझ के लड़नी है — ये होता है आध्यात्मिक मन।

आ रही है बात समझ में?

आप ये नहीं कह सकते — जैसे जो पारम्परिक धार्मिकता होती है कि मैं धार्मिक आदमी हूँ, कुछ नहीं करता, इतनी सी मेरी दुकान है, जिसका माल बिकता भी नहीं है, जिसको आगे बढ़ाने के लिए मैं कुछ करता भी नहीं, करता भी हूँ तो मुझे करना आता नहीं, दिन के चार घंटे दुकान खोलता हूँ, बाक़ी घर में आकर के बैठ जाता हूँ, खाता हूँ, पीता हूँ, दो रोटी रूखी-सूखी और ध्यान करता हूँ।

ये झूठा है तुम्हारा ध्यान और झूठा है तुम्हारा धर्म। जो कर रहे हो अगर उसमें नम्बर एक नहीं हो तो बहुत झूठा है धर्म भी, ध्यान भी तुम्हारा। और अगर वो काम इस लायक़ नहीं है कि उसमें नम्बर एक हुआ जाए, तो धर्म कहता है कि वो काम करो ही मत; छोड़ दो। जो सही काम है, वो करो न फिर। सही काम को ही स्वधर्म कहते हैं — "स्वधर्मे निधनं श्रेयः"।

सही काम चुनो, भले ही उसमें मर जाओ, पर सही काम करो। और सही काम जब चुनोगे तो उससे ऐसा प्रेम रहेगा कि उसमें नम्बर एक बनकर दिखाओगे।

ज़िन्दा क्यों हो?

ज़िन्दा भी हो, काम भी कर रहे हो और उसमें कुछ करके भी नहीं दिखा रहे हो, तो जी क्यों रहे हो?

श्रीकृष्ण कहते हैं, ‘प्रकृति का अर्थ ही है गति, यहाँ जो भी है वो गतिशील है, माने कर्म कर रहा है। और कर्म जब कर ही रहे हो, अर्जुन, तो ज़रा धाकड़ कर्म करो न। कर्म को त्याग तो तुम वैसे भी नहीं सकते जब तक ज़िन्दा हो। प्रकृति का अर्थ ही क्या है? गति। त्याग तो कर्म को सकते ही नहीं; जब कर्म करना ही है तो ज़रा झंडा गाड़ के करो, ज़रा चिंघाड़ कर करो।’

भारत का सौभाग्य कि उसको गीता मिली और भारत का दुर्भाग्य कि उसने कभी गीता गुनी नहीं, समझी नहीं। और भारतीयों में भी जिन्हें वेदान्त समझ में आया, जिनमें उत्कृष्टता के प्रति प्रेम जगा, वो शिखर पर पहुँचे। शिखर से मुझे याद आता है, देखिए, क्या बोलते हैं श्रीकृष्ण? क्या बोलते हैं? बोलते हैं — ‘जिस क्षेत्र में जो भी सर्वोच्च है, सर्वश्रेष्ठ है, वो मैं हूँ, अर्जुन। शस्त्रधारियों में कौन हूँ मैं, अर्जुन? राम हूँ।‘

मतलब क्या कहना चाहते हैं श्रीकृष्ण? नम्बर एक। और अगर तुम नम्बर एक नहीं हो सकते तो मेरा नाम मत लेना, अर्जुन। इसीलिए गीता भी उन्होंने दी है तो सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर को दी है, किसी छोटे-मोटे बन्दे को नहीं दी है। जो नम्बर एक था उसको ही कहा, ‘तू ही है गीता के लायक़।’

इसका मतलब ये नहीं है कि मात्र सर्वश्रेष्ठ धनुर्धर होने से गीता की आपमें पात्रता आ जाती है। और भी पात्रताएँ चाहिए, पर जितनी भी पात्रताएँ चाहिए, अर्जुन में सब पर्याप्त मात्रा में थीं, इसलिए गीता उन्हें मिली। वो पात्रताएँ हम नहीं दिखातें न। और पात्रता का मतलब ही है ‘उत्कृष्टता’। वो उत्कृष्टता हम दिखाते कहाँ हैं?

आप बोलें, 'मैं हर काम में फिसड्डी हूँ, लेकिन श्रीकृष्ण मेरे आदर्श हैं', तो अधिकार नहीं है आपका कि आप श्रीकृष्ण का नाम अपनी ज़ुबान पर लायें।

पर्वतों में कौन हूँ मैं?

नदियों में कौन हूँ मैं?

मतलब क्या है इस बात का?

देखो, जो सबसे ऊँचा है उससे नीचे की बात मेरे साथ नहीं चलेगी। जो सबसे बड़ी, सबसे पवित्र है उससे नीचे की बात मेरे साथ नहीं चलेगी। तुम छोटा-मोटा टीला ले आओ और बोलो कि श्रीकृष्ण। हटो! छोटा-मोटा तुम कोई ताल, कोई तलैया उठा लाओ और तुम बोलो ‘श्रीकृष्ण।’ हटो! गंगा सी विशालता चाहिए।

अध्यात्म हारे हुए लोगों के लिए नहीं है। भारत में अध्यात्म हारे हुए लोगों का अड्डा बन गया; हारे-कमज़ोर लोगों का। हम बोलते भी हैं न — 'हारे को हरि नाम।' श्रीराम को बोलते हैं 'पतित पावन' — जो पतित है, गिरा हुआ है।

तो हुआ कि जब हारे को ही हरि नाम है, तो हरि नाम पाना है तो हारना पड़ेगा, तो सब हारने ही लग गये। भारत हारता ही गया, हारता ही गया, हारता ही गया, क्योंकि 'हारे को हरि नाम'। और उसका अर्थ बिलकुल दूसरा था। 'हारे को हरि नाम' जब बोला गया है तो वो बात बिलकुल अलग थी। लेकिन हमने, हमारे अहंकार ने उसका बड़ा विकृत अर्थ किया। हारना भारत में अपमान की बात ही नहीं रह गयी, बल्कि बड़प्पन की बात हो गयी — जो हारे वो बड़ा आदमी।

अरे भाई! हारना बड़प्पन की बात है तब, जब तुममें जीतने की क्षमता हो। “क्षमा शोभती उस भुजंग को जिसके पास गरल हो” — तुम्हारे पास गरल ही नहीं है, तुम क्षमा करने क्या निकल पड़े? जिसके पास बल हो, वो क्षमा का अधिकारी होता है। अब ढाई-हड्डी के फंटूस , वो पिट रहे हैं और बोल रहे हैं, ‘जा माफ़ किया।’ तू कर क्या लेता? तू क्या माफ़ करेगा?

अध्यात्म का तो अर्थ ही है बल की साधना — “नायम आत्मा बलहीनेन लभ्यो।”

भारत ने बल को त्याग दिया। अहंकार ने कहा, करना क्या है बल का? तो कुछ नहीं, बेकार! ये है बात और अगर कोई ये सब कहे न कि भारत में एक्सिलेन्स इसलिए नहीं आ पायी क्योंकि रिसोर्सेज़ (संसाधन) की कमी थी या कि ये तो इकनोमिक सरकमस्टान्सेस (आर्थिक परिस्थितियाँ) से हुआ है, तो ये सब बेकार की बात है।

सबसे बड़ा प्रमाण है दक्षिण-पूर्व एशिया। तुम दक्षिण कोरिया को देख लो, तुम सिंगापुर को देखो। कंबोडिया, वियतनाम, मलेशिया, इंडोनेशिया इनको देखो। सब हमारे साथ के हैं, आज़ाद देश, एकदम ऐसे छोटे-छोटे से। देखो कहाँ पहुँच गये। ताइवान, इतना-सा ताइवान और चीन के सामने ऐसे (सीना तानकर) खड़ा हुआ है — 'हाँ भाई!'

समझ रहे हो बात को?

क्या है? कुल एक द्वीप, एक छोटा सा द्वीप है वो, दिल्ली जितनी आबादी नहीं उसकी। ताइवान की दिल्ली जितनी भी नहीं है आबादी। और उसको सहारा देने के लिए कोई आस-पास उसके देश भी नहीं हैं। जापान, दक्षिण कोरिया ये

सब भी काफ़ी दूर हैं उससे एकदम। उसके पास सिर्फ़ एक ही है, चीन। और चीन जब चाहे उस पर चढ़ सकता है। और वो, 'हाँ भाई!'

और हम दुनिया की सबसे बड़ी आबादी रखते हैं — इतना सारा क्षेत्र पाकिस्तान ले गया, इतना सारा चीन ले गया और चीन अभी भी ले जा रहा है — और हम कुछ नहीं बोल सकते, कुछ नहीं कर सकते।

देखो, ज़मीन पर बड़ा विस्तार हो जाए, अध्यात्म ये नहीं सिखाता। पर भूलना नहीं कि श्रीकृष्ण भी अर्जुन को राज्य के लिए ही लड़ने को कह रहे हैं। इसका अर्थ ये नहीं होता कि अध्यात्म माने राज्य के लिए लड़ना। लेकिन ये भी तो पूछना पड़ेगा न कि तुम ज़मीन छोड़ क्यों रहे हो? अर्जुन ज़मीन किसलिए छोड़ रहे थे — डर के मारे, मोह के मारे, भ्रम के मारे? तुम्हें कोई वैराग्य थोड़े ही हुआ है; वैराग्य तो आत्मज्ञान से होता है। आत्मज्ञानी को मोह तो होता नहीं, तुम्हें तो मोह है, मतलब वैराग्य नहीं हुआ है तुम्हें। तुम जो दर्शा रहे हो, वो तो कायरता है।

भारत में जब तक लड़ने, जूझने और संघर्ष को धर्म नहीं जाना जाएगा तब तक भारत जग नहीं पाएगा। और मैं वो गली-मोहल्ले वाली लड़ाई की बात नहीं कर रहा हूँ। मैं कुरुक्षेत्र वाली लड़ाई की बात कर रहा हूँ — महायुद्ध, धर्मयुद्ध, अपने ही विरुद्ध युद्ध — किसी पराये को नहीं मारना है; अपनेआप को मारना है।

भारत में भी महानता आ सके, उत्कृष्टता आ सके, जिसकी आप बात कर रहे हैं वो एक्सिलेन्स आ सके, उसके लिए भारत की रगों में संघर्ष को बहना होगा।

'युध्यस्व'!

हर जवान लड़के-लड़की की आँखों में एक तेज होना चाहिए — 'हल्का मत समझ लेना हमको, छोटी बात पर हम ध्यान देते नहीं, छोटे मुद्दों में हम उलझते नहीं और सही लड़ाई से हम पीछे हट नहीं सकते।'

अपनी योग्यता जाननी हो तो अपनी हस्ती की परीक्षा लो

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, हाल ही में मुझे वॉलन्टीयरिंग (स्वयं सेवा) का मौका मिला था, तो मैं और मेरे सहयोगी ने तय किया कि हम आपके द्वारा जो पुस्तकें प्रकाशित हैं उनका स्टॉल लगाएँगे। जब वहाँ पहुँचा तो पाया कि इतने सारे लोगों में कौन इन किताबों का पात्र है, ये कैसे समझा जाए? मुझे समझ नहीं आया और मैं ज़्यादा लोगों से खुलकर बात नहीं कर पाया।

आचार्य प्रशांत: पात्रता का निर्धारण परीक्षा के ही माध्यम से हो सकता है। पानी में पानी मिला दो तो कुछ भेद पता चलेगा क्या? और पात्रता के निर्धारण का तो अर्थ ही है, विवेकपूर्ण भेद कर पाना, है न? क्या भेद कर पाना कि कौन सुपात्र और कौन कुपात्र यही भेद करना चाहते हो न? भेद करने के लिए जो परीक्षार्थी है उसको उसकी सामान्य स्थिति से भिन्न कोई स्थिति देनी पड़ेगी।

परीक्षा-भवन के बाहर सौ परीक्षार्थी खड़े हैं। सिर्फ़ उनको देख के ही क्यों नहीं तय कर देते कि इसमें से स्वर्ण पदक, रजत पदक, कांस्य किसको दे देना है? नौ बजे सुबह परीक्षा आरंभ होती है, दो घंटे की है, ग्यारह बजे तक की, पौने-नौ बजे तुम पा रहे हो कि परीक्षा भवन के बाहर कितने खड़े हैं परीक्षार्थी? सौ। उन सौ में कुछ अंतर नज़र आ रहा है क्या अभी? अगर आ भी रहा है तो बहुत मामूली। कोई स्पष्ट भेद उनमें पता चल रहा है अभी? सभी बात कर रहे हैं, सभी के हाथ में किताबें हैं, सभी की उम्र भी क़रीब-क़रीब एक समान है। कई तरह के अंतर दिख रहे हैं, पर कोई भी अंतर इतना स्पष्ट नहीं है कि तुम वहीं पर बता दो कि इसमें से कौन सुपात्र है और कौन नहीं है। क्या बता सकते हो?

लेकिन साढ़े-ग्यारह बजे सब बताया जा सकता है न। दो ही घंटे में ऐसा क्या बदल गया कि अब बिलकुल साफ़ हो गया कि कौन पात्र है और कौन नहीं? क्या बदल गया? परीक्षा ले ली। परीक्षा लिये बिना पात्रता का निर्धारण नहीं।

अब सवाल ये है कि अगर आप गये हैं लोगों में पुस्तकें वितरित करने या पुस्तकों का विक्रय करने, तो वहाँ परीक्षा कैसे लें? वहाँ पर आपके व्यक्तित्व को ही परीक्षा-पत्र होना पड़ेगा। आपकी हस्ती को ही बहुत बड़ा प्रश्न होना पड़ेगा। इसीलिए मैंने कहा, 'पानी में पानी मिले तो कोई भेद नहीं हो सकता।' जैसी भीड़ गुज़र रही है आपके पुस्तक स्टॉल के सामने से, अगर आप भी उस भीड़ जैसे ही हैं, तो पात्रता का कोई निर्धारण नहीं हो सकता। आप जैसे, वैसी ही दुनिया; दुनिया को आप में कुछ अलग दिखेगा ही नहीं, तो भेद का भी फिर कोई सवाल नहीं।

हाँ, आप कुछ ऐसे हैं कि आप से पार पाना, आप से गुज़र कर जाना, आप से सम्बन्ध बनाना, आप से बात करना, चाहे आप की उपेक्षा करना, यही एक सवाल, एक चुनौती बन जाए आपके स्टॉल के पास से गुज़रने वाले के लिए, तो फिर बिलकुल साफ़ हो जाएगा कौन पात्र है और कौन पात्र नहीं।

आपके स्टॉल को, आपके स्वयंसेवक को, स्वयंसेवक के पूरे व्यक्तित्व को, हस्ती को, पर्सनेलिटी को एक चुनौती की तरह होना होगा। अब दूध का दूध पानी का पानी हो जाएगा। अब बिलकुल साफ़ हो जाएगा कि कौन आपकी ओर आ रहा है; कौन आपकी ओर नहीं जा रहा है।

मैं कहा करता हूँ न कि लोहे में और ताँबे में भेद करना हो तो उसके लिए एक चुंबक चाहिए बहुत बड़ी; आपको चुंबक होना पड़ेगा। अब अंतर साफ़ हो जाएगा कि कौन पात्र है, कौन नहीं। कुछ होंगे जो आपकी ओर बिलकुल खिंचे चले आएँगे, और कुछ होंगे जिन पर आपका कोई प्रभाव ही नहीं पड़ेगा — बात साफ़ हो गयी आप चुंबक नहीं हैं।

आप भी अगर लोहे ही हैं, तो कुछ पता नहीं चलेगा किससे बात करें किससे नहीं। फिर आप तुक्के मारेंगे, फिर आप दस लोगों से बात करेंगे, तो उसमें से कोई एक बस यूँ ही संयोगवश पात्र निकल आएगा — उसके साथ बात बन जाएगी। नौ अवसरों पर आपका प्रयत्न व्यर्थ जाएगा।

आपकी हस्ती में कुछ ऐसी बात हो न कि कोई खींचे आपकी ओर; कोई आपको देख के दूर से ही वापस न मुड़ जाए। आप एक भीड़ के बीचों-बीच खड़े हो, आप बाज़ार में खड़े हो न। जब आप पुस्तक स्टॉल लगाते हो तो आप एक बाज़ार में खड़े हो, है न? बाज़ार में भीड़ है, आप उसी भीड़ जैसे ही हो, तो कोई आप पर क्या ध्यान देगा!

आपका एक पोलराइज़िंग इफ़ेक्ट (ध्रुवीकरण प्रभाव) होना चाहिए कि आप पहुँचे नहीं कि भीड़ दो धाराओं में विभक्त हो गयी — कुछ जो आपकी ओर खिंचने लगे और कुछ जो आप से कटने लगे, दूर-दूर रहने लगे। हाँ, एक तीसरी श्रेणी भी ज़रूर होगी कि जिन पर आपका कोई असर ही नहीं पड़ रहा। वो अंधे हैं, उन्हें कुछ दिख नहीं रहा, उनकी बात नहीं करनी।

आप जो पुस्तक वहाँ वितरित करने गये हो, आपके व्यक्तित्व को उसका जीवंत प्रमाण होना होगा। एक समय था जब प्रतिदिन चार-छः-आठ स्टॉल भी लगा करते थे। दो-चार अलग-अलग शहरों में भी लगा करते थे। तो मैं कहता था कि लेने वाला तुमसे तुम्हारी किताब नहीं लेता — किताब तो उसने पढ़ी ही नहीं, उसे किताब का क्या पता अभी — लेने वाला तुमसे तुम्हें लेता है।

वो तुम्हें देखकर किताब लेता है। तुम जैसे हो, उसी अनुसार वो किताब के भी महत्व का, और गहराई का निर्धारण कर लेता है। तुम्हारी शक्ल को किताब का सार होना चाहिए। तुम्हारे चेहरे पर पुस्तक का अर्थ छपा हुआ होना चाहिए। तुम्हारी आँखों में उस पुस्तक का प्रकाश होना चाहिए। तब जो आया है तुम्हारे स्टॉल पर वो समझ जाएगा कि अगर देनेवाला ऐसा है, तो देय वस्तु भी अच्छी ही होगी।

वो कहेगा कि जब विक्रेता ऐसा है, तो विक्रीत वस्तु भी बुरी नहीं हो सकती। जब दाता ऐसा है, तो दान में भी कुछ गुणवत्ता होगी। यहीं से दूध का दूध पानी का पानी होगा।

आपको परीक्षा-पत्र बनना पड़ेगा। आपको बाज़ार के बीचों-बीच खड़े हो जाना पड़ेगा, क्या बनकर? प्रश्न-पत्र। ‘आओ मेरे सामने आओ, मुझे हल करो।’ कुछ होंगे जो कहेंगे, ‘हाँ, हल करना है, आ रहे हैं।’ कुछ होंगे जो आपकी शक्ल देखकर दूर से भाग जाएँगे। कुछ होंगे जिनको समझ में ही नहीं आएगा कि आप प्रश्न-पत्र हैं, उनको छोड़िए।

इसलिए आध्यात्मिक स्वयंसेवक को कभी अपनी पहचान छुपानी नहीं चाहिए। तुम्हारी पहचान ही तो वो कसौटी है जिस पर दुनिया कसी जाएगी। तुमने अगर अपनी पहचान छुपा ली जनता के बीच, सार्वजनिक जगहों पर, तुम अगर अपनेआप को जनता जैसा ही प्रदर्शित करने लग गये, तो जनता की परीक्षा कैसे होगी भाई? बोलो।

तुम में से कौन साहसी है और कौन नहीं, इसका कुछ पता चल जाएगा न अगर अभी यहाँ पर एक साँप घुस आये। अभी कुछ दिन पहले घुसा था, आश्रम में, एक मस्त नाग, उससे हमें कुछ पता चला लोगों के बारे में। अब नाग महाराज भी अगर इच्छाधारी हों — हिंदुस्तान है — और वो भी यहाँ पर तुम्हारी ही तरह सफेद कुर्ता पहनकर बैठ जाएँ, तो किसी की क्या परीक्षा होगी, कि होगी? तुम भी मस्त, नाग भी मस्त।

आप में दम कितना है, आप किस धातु के बने हो, ये तो तभी पता चलेगा न जब नाग, नाग की तरह ही सामने आए; अपनेआप को छुपाए नहीं। तो मेरे स्वयंसेवकों को भी नाग बनकर ही अपनेआप को दिखाना होगा; छुपाके काम नहीं चलेगा। तुम अपनेआप को छुपा लोगे तो तुम्हें नहीं पता चलेगा कि लोग कैसे हैं — और ये बड़ी विचित्र बात हो गयी — क्योंकि लोग तो वैसे ही घूम रहे हैं जैसा होने की उनको शिक्षा दी गयी है, जैसे वो प्रशिक्षित और संस्कारित हैं।

उनकी तो मजबूरी है कि वो और कोई तरीक़ा जानते ही नहीं जीने का, चलने का, खाने-पहनने का; आप तो जानते हो। उसके बाद भी आप जनता के बीच जनता जैसा ही आचरण क्यों कर रहे हो? क्यों नहीं अलग हो? अलग हो तो दुनिया तुम्हें देख के थोड़ा चौंकेगी, चौंकेगी न? जब चौंकेगी तो तुम्हें पता चल जाएगा कौन कैसा है।

अभी पंजाब के एक बड़े विश्वविद्यालय में हमारा कई महीनों लम्बा कार्यक्रम चल रहा है। वहाँ विशाल जी — बैठे हैं — जाते हैं। और कौन जाता है? अखिल यहाँ है नहीं, कहाँ है अखिल? (संस्था के स्वयंसेवकों का उल्लेख करते हुए)

अब आमतौर पर किसी यूनिवर्सिटी (विश्वविद्यालय) के शिक्षक या प्रोफेसर की तुम कैसी पोशाक की कल्पना रखते हो? और ये लोग क्या पहनकर जाते हैं?

क्या पहनते हैं विशाल जी? ये धड़ल्ले से रंग-बिरंगे कुर्तों में जाते हैं। उसका लाभ है। अभी ये क्या बन गये? ये कसौटी बन गये। ये एक तरह का प्रश्न-पत्र बन गये। कुछ होंगे जो उनको देखकर ही बिदक जाएँगे कि यूनिवर्सिटी में ये कौन घुस आया। दूसरे होंगे जो कहेंगे, 'कुछ बात है। कुछ बात है। कुछ तो अलग हुआ यहाँ पर।'

और फिर ये ढकोसला नहीं कर रहे, ये वही कर रहे हैं जो इन्हें करना है, जो बात इनकी आत्मा से उठ रही है। यहाँ कौन घूमता है भई सूट-बूट में? संस्था में कौन है जिसको बड़ा आनंद रहता है कि ट्राउज़र्स ही पहनने हैं और शर्ट ही पहननी है, कौन है ऐसा? कभी-कभार पहन लेते होंगे, नहीं तो नहीं।

तो जब हम आमतौर पर ढीले-ढाले वस्त्रों में ही रहते हैं यहाँ पर, तो वहाँ जब हम विश्वविद्यालय में जा रहे हैं छात्रों के सामने, तो वहाँ हम काहे के लिए पहनें टाई , और ये, और वो? मैं ख़िलाफ़ नहीं हूँ, कभी पहन लो शर्ट वग़ैरा भी इच्छा हो तो। ठीक है। लेकिन तुम्हारी हस्ती अगर असली है, तो तुम्हारी हस्ती ही तुम्हारे लिए सही-ग़लत का निर्धारण कर देती है।

कहीं भीड़ बहुत हो, वहाँ बीच में से एक साइकिल निकल रही हो, तो साइकिल वाला पों-पों करके ऐसे बजाएगा, घंटी मारेगा, 'ए माई रास्ता देना। बाबू सड़क छोड़ के', करेगा। और भीड़ बहुत हो और ट्रक आ जाए तो रास्ता अपनेआप खाली हो जाता है। तुम्हारी हस्ती ही ऐसी हो कि लोग समझ जाएँ कि तुम कौन हो। लोग समझ गये कौन है।

और ये हस्ती, मैं फिर कह रहा हूँ, तुमने कृत्रिम रूप से धारण नहीं करी है, तुम नाटक नहीं कर रहे हो। साइकिल के ऊपर तुमने ट्रक का कार्डबोर्ड का (पुट्ठे का) मॉडल (नमूना) नहीं बैठा दिया है। तुम ट्रक हो और तुम ट्रक हो अगर, तो तुम्हें भीड़ में हॉर्न नहीं बजाना पड़ेगा। हॉर्न छोड़ दो, तुम ट्रक हो अगर तो भीड़ में तुम ब्रेक भी मार दोगे, तो भीड़ भाग जाएगी। ट्रक का ब्रेक सुना है कैसा होता है? हाइड्रोलिक होता है जिसमें से फिस्सऽऽ की आवाज़ आती है। उतने से ही सौ मीटर आगे तक जान सूख जाती है कि कौनसा दैत्य है पीछे, फुँकार रहा है।

अब कुछ समझ में आ रहा है कि भारत में तुमने क्यों देखा कि जानने वालों ने, साधुओं ने कभी भगवा धारण किया, कभी सफेद धारण किया। पहली बात तो उनका आम पोशाकों से दिल उठ गया था। दिल ही उठ गया था। ऐसा नहीं था कि उन्होंने कृत्रिम तरीक़े से, बनावट के लिए सफेद धारण किया। उनका मन उठ गया था कि ये क्या रंग-बिरंगा। तुम हमें देखो कभी काला भी धारण करा है, सबकुछ रहा है। लेकिन जिसने जो धारण करा है, वो बात असली रही है उसकी।

और केश अक्सर बड़े होते थे। कभी केश बिलकुल साफ़ होते थे, सिर घुटा रखा है। कभी दाढ़ी बड़ी होती थी, कभी बिलकुल साफ़ होती थी। वो जैसे भी होते थे, उनकी हस्ती उनकी आंतरिकता का प्रमाण होती थी। उन्होंने छुपाया

नहीं कि अंदर से कुछ और हैं, लेकिन बाहर से तो हम जनमानस की तरह ही बिलकुल सामान्य बनकर जियेंगे। उन्होंने कहा, ‘अब अंदर से जैसे हो गए हैं, बाहर भी उस बात को छुपाएँगे नहीं। जब भीतर से ही अब हम रंगीले राजा नहीं रहे, तो बाहर हम क्या आम लोगों की तरह पचास रंगों का प्रदर्शन करें? हम एक रंग, दो रंग में अब तृप्त हैं। वो रंग कोई भी हो सकता है।’

अलग-अलग पंथों, समुदायों, अलग-अलग मन के लोगों ने अलग-अलग रंग भी चुन लिए। कोई बात नहीं, लेकिन उन्होंने कभी ऐसा नहीं करा कि वो आम जनता की तरह दिखने की कोशिश करें।

बात समझ में आ रही है?

आध्यात्मिक पथ पर जो आदमी लगा है वो बड़ी-से-बड़ी भूल ये कर सकता है कि वो कहे कि मैं तो आम लोगों जैसा ही दिखूँगा, क्योंकि आम लोगों जैसा दिखने में, भीड़ का हिस्सा होने में सुरक्षा लगती है। मैं ये नहीं दिखाऊँगा कि मैं अलग हो गया हूँ। मैं दो नावों पर एक-एक पाँव रखकर यात्रा करूँगा। मैं पचास-पचास खेलूँगा। मैं जब बाज़ार में रहूँगा, तो मैं ऐसे कपड़े पहन लूँगा कि लगे कि मैं बिलकुल बाज़ार का ही हूँ। मैं दफ़्तर में रहूँगा, तो मैं बिलकुल दफ़्तर जैसा ही सब धारण कर लूँगा। और मैं जब अध्यात्म में आऊँगा, तो वहाँ मैं कुछ सफेद इत्यादि धारण कर लूँगा।

नहीं, ये बड़ी-से-बड़ी भूल है जो तुम अध्यात्म में कर सकते हो और इस भूल का आप बहुत दंड भी भुगतते हैं। दंड मैं बता देता हूँ कैसे भुगतते हैं।

समझिएगा!

यहाँ आप वैसे हैं जैसा आपको लगता है कि इस जगह की माँग है, है न? आप यहाँ से बाहर निकलेंगे, दफ़्तर चले जाएँगे या घर चले जाएँगे, वहाँ आप वैसे हो जाते हैं जैसा आपको लगता है कि वहाँ की माँग है। अब थोड़ा सा उस बेचारे के मन में जाइए जो आपसे आपके घर में या दफ़्तर में मिल रहा है। मान लीजिए आप यहाँ आये हैं और आपने अपनी पत्नी को या अपने भाई या अपने माँ-बाप को इस विषय में ज़्यादा सूचना इत्यादि नहीं दी है, बताया नहीं है और दफ़्तर में आपने अपने सह-कर्मियों को, अपने वरिष्ठों को ज़्यादा कुछ बताया नहीं है।

आप जब घर जाओगे तो घर में आप कैसे हो जा रहे हो? बिलकुल घरवालों जैसे। तो घरवालों बेचारों को क्या लग रहा है? कि आप तो उन्हीं के जैसे हो। अब बात ये है कि अंदर-ही-अंदर आप थोड़े इधर के भी हो चुके हो। उनको यही लगता रहेगा आप उन्हीं के जैसे हो। जब उनको यही लगता रहेगा कि आप उन्हीं के जैसे हो तो फिर वो आपसे यही चाहेंगे न कि आप उनकी सब माँगे भी पूरी करो? उनको आप ये ख़बर ही कहाँ लगने दे रहे हो कि आप कुछ और हो

चुके हो। उनके सामने आप कैसे बन जा रहे हो?

शादी-ब्याह, पार्टी इत्यादि में आप जब जाते हो, तो आप बिलकुल उसी माहौल के हो जाते हो। आप में से कई लोग शादियों में झूमने लग जाते होंगे, कई लोग जाम भी छलकाने लग जाते होंगे, तो वहाँ के लोगों को लग रहा है — आप खन्ना साहब हैं मान लीजिए — कि खन्ना तो बिलकुल हमारे ही जैसा है। अब एक दिन उनको पता चले कि खन्ना तो अध्यात्म में रुचि रखता है और ग्रेटर-नोएडा के किसी जंगली इलाके में बीच में आधी रात को जाया करता है, सत्संग-वत्संग सुनने, तो उन बेचारों को तो झटका ही लग जाएगा न? और उनको ये जो झटका लगा, उसके ज़िम्मेदार कौन हैं? आप ख़ुद। क्योंकि आप उनके सामने कैसे बने रहे? आप उनके जैसे बने रहे।

अब, जब उनको पता लगेगा कि यहाँ निर्जन बीहड़ में तुम आधी रात को बैठे श्रीमद्भागवत गीता का पाठ कर रहे हो, तो उनको तो दिल का दौरा आना ही आना है। कहेंगे, 'खन्ना बेचारा! किसी तांत्रिक ने कुछ मार दिया टोना वग़ैरा।' और ये सब क्यों हो रहा है? क्योंकि वहाँ पर तुमने अपनी असलियत ज़ाहिर नहीं होने दी। इतना ही नहीं, तुमने यहाँ पर भी अपनी असलियत नहीं ज़ाहिर होने दी। यहाँ तुम आये तो तुम यहाँ जैसे हो गये, गिरगिट की तरह। वहाँ तुम गये तो तुम वहाँ के जैसे हो गये। तुम दोनों तरफ़ से मारे जाओगे।

'माया मिली न राम'। किसने लिखकर भेजा था इसमें?

(प्रश्नकर्ता हाथ उठाये हुए)

अरे ल्यो! ये तो गड़बड़ हो गयी। मुझे कैसे पता चला? कहीं के नहीं बचे न। यहाँ आओगे मुझसे झाड़ खाओगे; घर जाओगे बीवी से झाड़ खाओगे। यहाँ अधिकांश लोगों की यही हालत है। यहाँ मैं झाड़ता हूँ कि पूरी तरह यहाँ के क्यों नहीं हो; घर पर बीवी झाड़ती है कि पूरी तरह वहाँ के क्यों नहीं हो। तुम कहाँ के हो ये तुम्हें ख़ुद ही पता नहीं। तुम वहाँ के हो जहाँ पर अभी तुम हो। जब यहाँ हो तो यहाँ के हो, जब वहाँ पर हो तो वहाँ के हो — ऐसे काम नहीं चलता।

भीड़ को बदलने की तमन्ना ही छोड़ दो, अगर तुम्हें भीड़ से डर लगता है और अगर तुम भीड़ में घुल-मिलकर भीड़ जैसे ही हो जाते हो। छोड़ दो तमन्ना। तुम में किसी को कुछ अलग दिखेगा तब तो वो तुम्हारी पुस्तकों की ओर आकर्षित होगा न? और वो कहे कि तुम भी बिलकुल उसके चुन्नू भैया जैसे ही हो, तो वो तुम्हारी किताबें क्यों ख़रीदेगा, बताओ मुझे? तुम में कुछ अलग दिखे कि न दिखे, पर अलग दिखने से ख़ूब घबराते हो, कहते हो, 'नहीं, अगर हम अलग दिखने लगे तो फिर ये लोग हमको अपना भाई नहीं मानेंगे। अलग तो हमें दिखना ही नहीं है।' मैं फिर कह रहा हूँ, 'अलग ज़बरदस्ती करके नहीं दिखना है। अलग बनावट करके नहीं दिखना है।' मैं कह रहा हूँ, 'अलग तो तुम हो न भीड़ से, अन्यथा, यहाँ बैठे नहीं होते।'

तो अपना ये जो असली भेद है दूसरों की तुलना में, इसको ज़ाहिर होने दो न, प्रकट होने दो न।

जब तुम्हारा हृदय गीता की ओर आकर्षित हो ही रहा है, तो अपने व्यक्तित्व में भी थोड़ा कृष्ण को उभरने दो न। नहीं तो ये कैसा प्रेम है तुम्हारा कृष्ण के लिए कि दिल-ही-दिल में है और ज़बान पर कभी नहीं आता, चेहरों पर कभी नहीं आता, हस्ती में, बोलचाल में, कपड़ों में, केशों में कभी नहीं दिखायी देता — ये कैसा प्रेम है?

दुनिया भी तुम्हारी कद्र तभी करेगी जब तुम अपने प्रेम को, अपनी असलियत को ज़ाहिर करने की हिम्मत दिखाओ। बाज़ार में अगर खड़े हो और तुम्हारा चाल-चलन, तुम्हारा व्यक्तित्व ही गवाही दे रहा है कि ये आदमी साधारण नहीं है, ये आदमी कुछ अलग है, तो लोग अपनेआप आएँगे तुम्हारे स्टॉल की तरफ़। और जब तुम्हारी ओर आयें, तो फिर तुम्हारी भाषा भी थोड़ी अलग होनी चाहिए न।

या आएँगे तुम्हारी ओर, तुम बोलोगे, 'हाय! हाउ डू यू डू? आय एम नाउ गोइंग टु शो यू सम नाइस गुडीज़, थिंगज़।' (हाय! आप कैसे हैं। अब मैं आपको कुछ अच्छी चीज़ें दिखाने जा रहा हूँ)

वो कहेंगे, 'भक्क! हमको यही भाषा सुननी है, तो हम जाकर वुडलैंड के जूते नहीं ख़रीदें।' पर हम सोचते हैं कि कूल बनकर हमारा काम चल जाएगा। हम डरे हुए लोग हैं। हम में हिम्मत ही नहीं होती कि साफ़-साफ़ खुलकर दिखा सकें कि हम कौन हैं। हम आतंकवाद की बात करते हैं। सबसे ज़्यादा आतंकित तो हम अपने आस-पास के लोगों से हैं। बताइए, आतंकवादी कौन फिर? आप थोड़ा अपनी दाढ़ी बढ़ाकर देखिए, चार लोग आएँगे और कहेंगे, 'ये क्या है? दाढ़ी कैसे बढ़ायी? चलो काटो, अभी काटो।' और फिर हम बात करते हैं मानवाधिकारों की!

सच तो ये है कि आपके घर में ही आपके मानवाधिकारों का उल्लंघन होता है। हिम्मत हो तो घर पर भगवा पहनकर दिखा दो, फिर हम देखें तुम्हारी *हूयमन राइट्स*। ऐसा पीटे जाओगे कि पूछो मत! और हम बात करते हैं कि सड़क पर हमारे मानवाधिकारों का उल्लंघन होता है, ये होता है, वो डराता है। सबसे ज़्यादा डरे तो हम अपने स्वजनों और मित्रों से हैं।

जो लोग कहते हैं कि वो बड़े ओपन माइंडेड (उदार चित्त) एंड फ्लेक्सिबल ऑर्गनाइजेशंस (लचीले संगठन) में काम करते हैं। जो नयी कम्पनियाँ हैं वो अपनेआप को इसी रूप में प्रचारित करती हैं। 'क्या हैं हम? *ओपन माइंडेड एंड फ्लेक्सिबल*।' वो कहते हैं, 'हमारे यहाँ साहब कोई ड्रेस-कोड (परिधान संहिता) वग़ैरा नहीं है।' इससे उनका आशय है कि आपको फॉर्मल (औपचारिक) शर्ट और ट्राउज़र में आने की ज़रूरत नहीं है, आप टी-शर्ट और जीन्स में भी आ सकते हो।

जब कोई कंपनी कहे कि देखिए हम तो बहुत ओपन माइंडेड हैं, फ्लेक्सिबल हैं, वर्क ऑवर्स (कार्यावधि) भी हमारे यहाँ पर फ्री हैं, आप वर्क फ्रॉम होम (घर से काम) भी कर सकते हैं बीच-बीच में चाहें तो, जब कोई संस्था इस तरह की बात करे — ज़्यादातर इस तरह की जो न्यू-एज इंडस्ट्रीज़ (आधुनिक औद्योगीकरण) हैं उन्हीं में होता है आईटी, आइटेस — तो उनका सोचना ये होता है कि अगर हम कहेंगे कि फॉर्मल शर्ट और ट्राउज़र नहीं पहनना है तो ये अधिक-से-अधिक क्या करेगा?

तुम पर्दनी में जाओ फिर देखो वो कितने ओपन माइंडेड हैं। पर्दनी समझते हो? कई तो समझते भी नहीं होंगे, पर्दनी क्या होती है। (मुस्कुराकर शहर का उल्लेख करते हैं) गुड़गांव। कौन जानता है पर्दनी? अब जो जानते नहीं उनको मैं समझा नहीं सकता। बड़ा मुश्किल है समझाना। समझ लो वो लुंगी से भी ज़्यादा जटिल होती है। भई, आपने यही तो बोला कि यहाँ पर कोई ड्रेस कोड नहीं है। तो ठीक है, हम आ जाते हैं लुंगी में, फिर देखो कि ड्रेस कोड है कि नहीं। घोर आतंकवाद है! उसके बाद वो तुमसे कुछ कहेंगे नहीं, पर उनकी आँखें तुम्हें आतंकित कर देंगी, क्योंकि उन आँखों में बड़ा आतंक भरा होगा।

मैं हमेशा से हिंदी में हस्ताक्षर करता था। और जितने सालों मैंने कॉरपोरेट में नौकरी की, कई दफ़े उस वजह से ही नौकरी जाने की नौबत आ गयी।

कोई कहे कि ये तुम क्या करना चाहते हो, क्या बताना क्या चाहते हो?

यू वांट टु प्रूव अ प्वाइंट ? (आप एक बात साबित करना चाहते हैं?)

मैंने कहा, 'नहीं भई, ये मेरा नाम है।' (श्रोतागण हँसते हैं)

यू वांट टु स्टैंड आउट ? (आप अलग दिखना चाहते हैं?)

नहीं भई, सिर्फ़ अपना नाम लिख रहा हूँ अपनी मिट्टी की लिपि में 'प्रशांत', क्या आपत्ति है?

और जब कंसल्टिंग में गया तब तो पूछो मत। वो बहुत सूड (दिखावटी) नौकरी होती है। सूड समझते हो?

(श्रोतागण अस्वीकार दर्शाते हुए)

भग्ग! आध्यात्मिक ही रह गये! सूड मतलब, चलो तुम्हारे लिए, सोफिस्टिकेटेड (जटिल)। सोफिस्टिकेटेड नहीं,

वास्तव में, नकली सोफिस्टिकेशन (जटिलता)। तो वहाँ तो मैं पहुँचा तो मुझे बाक़ायदा समझाया गया कि देखो भाई, हम अपने क्लाइंट्स (ग्राहकों) से बहुत मोटी बिलिंग (रकम) करते हैं और तुम्हारी भी बहुत मोटी बिलिंग होने जा रही है। अब उनके सामने अगर तुमने हिंदी में दस्तख़त कर दिये, तो बड़ी दिक्क़त हो जानी है। तो तुम एक काम करो, ये कोई लीगल डॉक्यूमेंट (कानूनी दस्तावेज़) वग़ैरा तो है नहीं, वहाँ जहाँ भी साइन (हस्ताक्षर) करना ऐसे ही कोई फर्ज़ी अंग्रेज़ी में कुछ कर देना।

मैंने कुछ कहा नहीं, मैंने बस देखा। तो तीस सेकंड बाद वो बोलता है, '*जस्ट जोकिंग*' (सिर्फ़ मज़ाक कर रहा था)।

(श्रोतागण हँसते हुए)

डरते क्यों हो अपनी असलियत ज़ाहिर करने से, क्यों डरते हो? तुम वही दिखाओ जो तुम हो, उसके बाद सही लोग अपनेआप तुम्हारे पास आएँगे। और बड़ी-से-बड़ी राहत तुम्हें ये मिलेगी कि व्यर्थ के लोग अपनेआप तुमसे दूर हो जाएँगे। तुम चोरों के बीच चोर जैसा आचरण करोगे, तो वो चोर सब तुमसे लिपटे ही रहेंगे न। अगर तुम चोर हो नहीं तो चोरों के बीच चोरों जैसा आचरण क्यों कर रहे हो? अगर तुम मूर्ख हो नहीं, तुम पार्टीबाज, शादीबाज़ मूर्खों के बीच मूर्खों जैसा आचरण क्यों करने लग जाते हो? मुझे बताओ।

ये जितना तुमने अभी यहाँ पर बोध जागृत करा है, ये जितना भीतर प्रज्ञान अभी उमड़-घुमड़ रहा है, ये शादी-ब्याह में कहाँ खो जाता है? वहाँ तो तुम भी शेरवानी डालकर के और भई खन्ने करते हो। जब तुम वहाँ उन्हीं जैसा आचरण करोगे तो वो तुम्हें घेरे ही रहेंगे न, घेरे रहेंगे या नहीं रहेंगे? वहाँ अगर तुम्हें उनसे मुक्त होना है तो बहुत आसान है, एक-दो-आधी समझदारी की बातें कर दो, वहाँ से पूरी भीड़ तुम्हारे आस-पास से ऐसे गायब होगी जैसे गधे के सिर से सींग।

मूर्खों के बीच फँसे हो तो ये थोड़ी करना है कि डंडा चलाना है, एकाध-दो समझदारी की बातें कर दो, वो बिलकुल विलुप्त हो जाएँगे। चमत्कार! कहाँ गये? बुलाये नहीं आएँगे।

कहो, बुलाओ, 'आ जाओ, आ जाओ।'

'अरे! आपके पास आते हैं तो उतर जाती है।'

और खन्नवा तो बिलकुल नहीं आएगा, सीधे भागेगा डांस-फ्लोर की तरफ़।

तुम बड़ी असम्भव माँग करते हो। तुम कहते हो, 'संसार जैसा भी बने रहना है, संसार में भी लिप्त रहना है और भीतर-ही-भीतर आध्यात्मिक भी रहना है।' ऐसे नहीं होता भई। मैं बैनर-पोस्टर लगाने को नहीं कह रहा, मैं लाउडस्पीकर पर घोषणा करने को नहीं कह रहा, पर कम-से-कम बात को छुपाओ मत। बात को नगाड़ा बजा-बजाकर के गाने की ज़रूरत भले न हो, पर छुपाने की भी ज़रूरत है क्या? छुपा काहे रहे हो?

छुपाओ नहीं, काम अपनेआप हो जाएगा। क्यों हो जाएगा? वो भी बताये देता हूँ। बहुत हैं जो खोज रहे हैं किसी असली आदमी को। सच तो ये है कि हर आदमी में एक खोज होती है किसी दूसरे असली आदमी की, होती है कि नहीं? अब दिक़्क़त सारी ये है कि जो असली आदमी है, उसको शर्म आती है अपने असली होने पर, तो वो अंदर-ही-अंदर भले ही थोड़ा असली हो जाए, बाहर-ही-बाहर नकली नकाब ओढ़े रहता है।

तो असलियत को खोजता हुआ कोई आ भी जाए तो तुम्हें पहचानेगा कैसे? कोई घूम रहा है बाज़ार में, जिस बाज़ार में तुमने स्टॉल लगाया है, कोई उस बाज़ार में घूम रहा है और कहीं-न-कहीं उसे ये विचार है कि कुछ असली मिले, तो उसकी ओर जाऊँ। वो कैसे आएगा तुम्हारी ओर अगर तुमने अपनी असलियत पर पर्दा डाल रखा है?

तो नकली बने रहकर के तुम उनको अपनेआप से दूर कर देते हो, अवरुद्ध कर देते हो; जिन्हें असलियत की तलाश है। और ऐसे बहुत हैं, तुम्हें पता नहीं चल रहा होगा, ऐसे बहुत हैं। तुम्हें पता क्यों नहीं चल रहा होगा कि कुछ लोग हैं जो असलियत को खोज रहे हैं? क्योंकि वो भी बाहर-बाहर से नकली हैं। बाहर-बाहर से सब नकली हैं, अंदर-ही-अंदर सब खोज रहे हैं किसी असली को।

असली जो है वो पता कैसे चलेगा जब बाहर-बाहर सब नकली बने बैठे हो? तो कोई चाहिए न जो खुलकर सामने आये और कहे, 'हाँ भई, यहाँ खेल असली है, आ जाओ।'

तुम खुलोगे नहीं तो कोई कैसे आएगा तुम्हारी ओर? तुम खुलोगे नहीं तो यही सब नकली आते रहेंगे तुम्हारी ओर।

अध्यात्म सिर्फ़ आंतरिक मौन का नाम नहीं है — आंतरिक मौन तो आवश्यक है ही कि मन शांत है, मौन है — बाहरी तल पर शेर की गर्जना भी है अध्यात्म। भीतर मौन और बाहर दहाड़। ये ग़जब मत कर देना कि अध्यात्म का मतलब तो मौन होता है न तो हम कभी इन होठों से बताएँगे नहीं कि हमें कृष्ण पसंद हैं। 'अध्यात्म माने तो मौन होता है न जी!'

ये मौन नहीं है, ये ख़ौफ़ है। तुम्हें डर लगता है अपनी असलियत ज़ाहिर करने से। तो मौन-मौन करते-करते बिलकुल ही पंगु, कायर, नपुंसक मत हो जाना कि दहाड़ने की ताक़त ही खो बैठे। क्यों? क्योंकि हम मौन के पुजारी

हैं। मौन हृदय में ही शोभा देता है, जीवन में कहाँ मौन!

जीवन में तो कर्म है, गति है, घर्षण है, संघर्ष है, तरह-तरह की तरंगें हैं और शब्द हैं। संसार में मौन कहाँ? संसार में मौन मत हो जाना; हृदय में मौन रहना — वो अच्छी बात है। संसार में तो बिलकुल दहाड़ती हुई घोषणा करना जानो।

ऋषीकेश में एमडीटी होता था तो उसमें एक आया करे अँग्रेज़ — ब्रिटिश नहीं था, यूरोपियन था, सबको हम अँग्रेज़ ही बोलते थे — तो वो सिर घुटा के, पीछे चुनई बढ़ा के और खूब चंदन-वंदन मल के आये, टीका-वीका करके। अच्छी बात है। दो ही चार दिन आया। दो ही चार दिन क्यों आया? अभी पता चलेगा।

तो आये और बैठे और बिलकुल कपड़े-वपड़े भी उसने बिलकुल धारण कर लिए थे जोगियों-सन्यासियों वाले। तो एक दिन हुआ, 'चलो, अब आज गंगा नहाएँगे, आज सत्र के बाद जितने बैठे हैं।' वो सब यूरोपियन ही होते थे, यूरोपियन-अमेरिकन। 'चलो, आज गंगा नहाएँगे।'

माहौल तीन साल पहले का। तो उसको लेकर के गये, और लोग भी गये थे तो वहाँ नहाने के लिए कपड़े उतारे गये, और जब कपड़े उतारे गये तो उसके ऊपर से लेकर नीचे तक टैटू-ही-टैटू। और टैटू भी सारे बिलकुल ज़बरदस्त तरीक़े के, कि छाती पर कुछ बनवा रखा है, नाभि पर कुछ बनवा रखा है, जाँघों पर, नितम्बों पर, सब पर उसने टैटू छपवा रखे थे।

तो पूछा, 'ये क्या है?'

बोला, 'ये रात वाले सत्र के लिए होता है।' बोलता है, 'यहाँ ऋषीकेश में दो तरह के सत्र चलते हैं। दिन में अध्यात्म वाले और रात में गाँजे वाले।' तो बोल रहा है, 'मैं दोनों जगह को बिलॉन्ग (संबंधित रहना) करता हूँ न। मैं जब सुबह वाला होता है तो उसमें मैं चंदन-वंदन लगा लेता हूँ और ये सब कर लेता हूँ, कपड़ा पहन लेता हूँ। रात वाले में जब जाता हूँ तो कपड़े उतार देता हूँ और तब ये है पूरा।' और उसमें साँप बने हुए हैं, दुनिया भर का कार्यक्रम लगा रखा है उसने। फिर वो आया भी नहीं उसके बाद।

तो ऐसा हमारा जीवन है।

छाती पर चोट खाना सीखो

प्रश्नकर्ता: नमस्ते आचार्य जी, आपने एक बात कही थी कि सत्य की ओर बढ़ने के लिए समझ सबसे ज़्यादा ज़रूरी होती है, प्रयत्न भी उसके बाद आता है। मेरा सवाल इसी से जुड़ा है।

मुझे कभी-कभी ऐसा लगता है कि मुझे समझ आ रहा है, तो मैं कई बार दावा भी करता हूँ कि हाँ, आज मुझे थोड़ा बहुत समझ आ रहा है। और दूसरी तरफ़ आप अपनी शिक्षाओं में कहते हैं कि इस बात को थोड़ा ग़ौर से समझो, और श्रीकृष्ण भी अर्जुन को बार-बार गीता में कह रहे हैं कि अर्जुन समझो। तो मेरा प्रश्न ये है कि मैं अपनी सीमित समझ से उस समझ की जिस समझ की आप बात करते हैं, जहाँ श्रीकृष्ण कह रहे हैं, उस समझ तक कैसे बढ़ूँ? क्योंकि जीवन वैसा ही है मेरा, संघर्ष है, ठहराव नहीं है। तो उस समझ तक कैसे बढ़ूँ जहाँ आप कह रहे हैं?

आचार्य प्रशांत: देखिए, हमारे सामने जब कोई बात आती है, जिसको हमें समझने को कहा जाता है तो हमारे भीतर क्या प्रक्रिया चलती है, वहाँ से शुरुआत करते हैं। आपको समझने को कुछ कहा ही क्यों जा रहा है? इसलिए नहीं कि आप नासमझ हैं, इसलिए कि आपके पास कुछ धारणाएँ हैं, कुछ उल्टा-पुल्टा ज्ञान है, कुछ मान्यताएँ हैं, जिनको आप सत्य समझ करके पकड़े हैं। ठीक? अगर वो नहीं होतीं तो क्या पड़ी थी किसी को कि आपको कहे, समझो, समझो। कोई ज़रूरत नहीं है न फिर? आत्मज्ञानी को तो भगवद्गीता की भी ज़रूरत नहीं है।

जो सर्वज्ञ हो गया, वो क्या करेगा कुछ पढ़कर के, या कुछ समझ करके? तो अगर आपसे कोई कह रहा है समझो तो इससे सबसे पहले सिद्ध क्या होता है? इससे यह सिद्ध होता है कि आप ज्ञानी हैं, आप अपनी तरह के ज्ञानी हैं।

हममें से कोई भी अज्ञानी नहीं होता, हम कुज्ञानी होते हैं। अज्ञान का मतलब होता है ज्ञान का अभाव। नहीं, ज्ञान का अभाव नहीं होता, हमारे पास बहुत व्यर्थ तरह का, बहुत घातक तरह का, बहुत झूठा ज्ञान होता है और हमारे हिसाब से वही सच होता है। तो अब आपके पास वैसा ज्ञान पहले से मौजूद था, और आपकी दृष्टि में वो ज्ञान क्या था?

प्र: वो सत्य था।

आचार्य: वो सत्य था। अब आपके सामने श्रीकृष्ण आ गये मान लीजिए और श्रीकृष्ण कह रहे हैं, 'समझो, बात को समझो।' तो ये समझने का अर्थ क्या हुआ? आपके पास पहले से कुछ ज्ञान है और वो ज्ञान गड़बड़ है, और श्रीकृष्ण आ गये हैं और कह रहे हैं — देखो तुम्हें कुछ बता रहा हूँ मैं, उस बात को समझो। तो वाक़ई आपसे श्रीकृष्ण कह

क्या रहे हैं? वो कह रहे हैं कि जो तुमने पकड़ रखा है देखो कि वो कितना ग़लत है। यही तो कह रहे है न? समझने की प्रक्रिया घट ही नहीं सकती बिना चोट खाये, बिना एक तरह का आंतरिक अपमान स्वीकार करे। किस बात का अपमान?

प्र: कि जो पहले समझा है वो ग़लत है।

आचार्य: जो पहले मैंने आज तक माना था वो ग़लत है। अब अपमान सहना अच्छा लगता है? अच्छा तो नहीं लगता, अच्छा तो लगता नहीं। तो भीतर जो बैठा हुआ है हमारे 'मैं', अहंकार, वो एक अद्भुत चाल चलता है। वो कहता है, 'मैं समझ गया।' 'मैं समझ गया' से वो अर्थ क्या कर रहा है? वो कह रहा है, 'मुझे जो बात कही जा रही है वो लगभग वही बात है जो मैं पहले से मानता हूँ। तो मुझे कोई तकलीफ़ ही नहीं है, मैं समझ गया। मैं स्वीकार कर लेता हूँ, मैं समझ गया।'

जबकि अगर कभी भी ऐसा होगा कि कोई श्रीकृष्ण आकर आपको कुछ समझाएँगे, तो निरपवाद रूप से निश्चित ही वो बात आपको चोट देगी, घायल करेगी, आपको एक आंतरिक अपमान, एक ह्यूमिलेशन बर्दाश्त करना पड़ेगा। वो हम बर्दाश्त करना चाहते नहीं। तो हम क्या करते हैं कि जो बात हमारी ओर आ रही होती है, हम उस बात को ही तोड़-मरोड़ देते हैं। हम उस बात को बिलकुल वो ही बना देते हैं, जिस बात में हम पहले से?

प्र: यक़ीन करते हैं।

आचार्य: विश्वास करते हैं। तो आप किसी बात पर विश्वास करते हैं, श्रीकृष्ण आपसे कुछ कह रहे हैं, श्रीकृष्ण के विरुद्ध आप किसी तरह की अमर्यादा या गुस्ताख़ी कर नहीं सकते। आप ये तो कह नहीं सकते कि श्रीकृष्ण ने जो कहा वह ग़लत कहा, झूठ कहा। तो आप क्या करते हैं कि आप श्रीकृष्ण का श्लोक लेते हैं और आप उसका कुछ विकृत अर्थ कर लेंगे। और आप कहेंगे, 'हाँ, बात बिल्कुल सही है, मैं तो हमेशा से इसी बात को मानता हूँ।' और आप तत्काल दोनों हाथ उठाकर कह देंगे, 'मैं इस बात को समझ गया। अरे समझ क्या गया! मैं तो इस बात को सदा से समझे हुए ही था।'

प्र: हाँ।

आचार्य: बस मैं समझ गया। देखते नहीं हैं आपके सामने बहुत लोग होते हैं इस प्रकार के, वो आएँगे, आप उन्हें कुछ समझाएँगे, आपका वाक्य पूरा होने से पहले ही वो कहेंगे, 'हाँ, हाँ हम बिलकुल समझ गये, बिलकुल समझ गये।' और फिर वो वापस जाएँगे और बिल्कुल वही ग़लती करेंगे जो करके वो पहली बार आपके पास आये थे।

पहली बार आपके पास आये कुछ ग़लती करके, आपने समझाया, वो कहेंगे, बिलकुल, बिलकुल, बिलकुल। आप बिलकुल चकित रह जाएँगे कि ये इतनी जल्दी समझ गया। बड़ी प्रखर इसकी प्रतिभा है, एकदम समझ जाता है, तुरंत। और वो लौटकर के जाएगा और फिर वैसा ही रहेगा जैसा पहले था, वही ग़लती दोहराएगा। क्यों? क्योंकि उसे चोट खाना बर्दाश्त नहीं था। समझने की प्रक्रिया हमेशा विनम्रता की प्रक्रिया होती है। विनम्रता के बिना बोध नहीं हो सकता।

हुयमिलिटी (विनम्रता) के बिना लर्निंग नहीं हो सकती। वो हममें होती नहीं है। हमको बुरा और लग जाता है जब ये सिद्ध होता है कि हम ग़लत हैं। और आपके ऊपर इससे बड़ा एहसान कोई नहीं कर सकता कि वो आपको साबित कर दे कि आप ग़लत हो। लेकिन एहसान मानना तो दूर छोड़िए, हमारे भीतर से उठता है विरोध। हमको लगता है हम पर आक्रमण हुआ है, तो फिर हम प्रतिकार करते हैं, हम प्रतिघात करते हैं। हम समझाने वाले को चोट ही पहुँचा देना चाहते हैं। और अगर हम ऐसा नहीं कर सकते तो फिर हम उसको बड़े परोक्ष तरीक़े से चोट पहुँचाते हैं। जैसे कि हमने श्रीकृष्ण तक को चोट पहुँचाने की कोशिश करी है। कैसे? हम उसकी बात को विकृत कर देते हैं; हम कहते हैं, ‘हम तुम्हें चोट नहीं पहुँचा सकते, कोई बात नहीं, हम दूसरे तरीक़े से तुमसे बदला निकालेंगे। हम तुम्हारी बात को ही भ्रष्ट कर देंगे, विकृत कर देंगे।’

तो आपको जब भी लगे कि आप कोई बात समझ गये, तो अपनेआप से पूछिएगा, ‘अगर मैं वाक़ई कोई नयी बात समझा हूँ तो मेरे भीतर की कौनसी पुरानी बात ग़लत साबित हुई? सौ में से निन्यानवे मौक़ों पर आपको उत्तर आएगा कि नहीं, बात तो समझ ली, लेकिन कोई पुरानी बात तो भीतर की ग़लत साबित हुई ही नहीं। अगर जो आप नयी बात समझ रहे हैं, वो आपके भीतर की किसी पुरानी बात को ग़लत साबित नहीं कर रहा तो आपने कुछ समझा नहीं। क्योंकि समझने की प्रक्रिया ही आंतरिक तोड़-फोड़ की है।

जो भी नई बात आपके मन में आ रही है, वो नया ज्ञान बनकर बैठने नहीं आ रही। वो भीतर आपने जो कचरा जमा कर रखा है, उसकी सफ़ाई करने आ रही है। वास्तविक ज्ञान बुलडोजर की तरह है, वो भीतर आएगा और जो पुराने ढाँचे होंगे, पैटर्न्स (ढाँचे), उनको ध्वस्त करेगा। तो अपनेआप से पूछिए, कुछ ध्वस्त भी हुआ। अरे, चोट लगी कि नहीं? चोट नहीं लगी तो समझे कहाँ? बिना चोट खाये समझना सम्भव ही नहीं, और हम सब समझ जाते हैं बिना चोट खाये। बड़े ताज्जुब की बात है!

तुम्हें चोट लगी नहीं, तुम समझ कैसे गये? अपमान का कड़वा घूँट तुमने पिया नहीं, तुम समझ कैसे गये? इसीलिए समझने में सबसे ज़्यादा तकलीफ़ उन बेचारों को आती है, जिन्होंने अपनेआप को प्रशिक्षण नहीं दिया होता अपमान झेलने का। जिनके लिए बहुत बड़ी बात यही होती है कि कोई हमें ग़लत न बोल दे, कोई हमे बुरा न बोल दे, कोई हमें कड़वा न बोल दे, उनके लिए सर्वथा असम्भव हो जाता है कुछ भी सीखना।

क्योंकि इसको एक नियम की तरह याद कर लो। तुम कुछ सीख नहीं सकते अगर जो तुम सीख रहे हो, भीतर कुछ तोड़ नहीं रहा। और हम भीतर कुछ टूटने देते नहीं क्योंकि टूट देती है चोट। और ये हो नहीं पाएगा कि तुम भीतर का अपना ढाँचा यथावत रखो और साथ ही साथ कह दो कि मैंने कुछ नया सीख लिया; ऐसा नहीं होता बाबा। हम चाहते यही हैं कि पुराना भी सब बना रहे और नया भी कुछ मिल जाए। पर ऐसा हो नहीं पाता, नियम है।

कुछ अगर सीखोगे, ऊपर को उठोगे तो जो निचली चीज़ें तुमने पकड़ रखी थीं, उनकी व्यर्थता को स्वीकार करके ही उठोगे। जिसमें ये साहस नहीं, जिसमें ये सत्यनिष्ठा नहीं कि वो अपनी पुरानी व्यर्थताओं को व्यर्थ जाने, ईमानदारी से स्वीकारे और साहस के साथ फिर त्यागे, वो जिस निचले तल पर पड़ा है उसी पर पड़ा रह जाएगा, कुछ सीखकर कभी ऊपर नहीं उठ पाएगा।

तो तत्काल मत दावा कर दिया करिए कि मैं कुछ सीख गया; क्या सीख गये? कुछ नहीं। सीखे होते तो भीतर हलचल मचती। और ज़्यादा सीखा होता तो भीतर भूचाल आ जाता। सीखना कोई बच्चों का खेल थोड़ी है कि सीख लिया। सीखने के लिए पुरुष चाहिए, वयस्कता चाहिए, मर्द चाहिए। छाती पर चोट लगती है तब इंसान कुछ सीखता है। हमें चोट खाना गवारा नहीं, तो क्या सीखोगे।

हमारे लिए यही बहुत बड़ी बात है: हमारा क्षुद्र मान-अपमान। सिखाने वाला भी हमसे मुस्कुराकर ही बात करे। सिखाने वाला भी हमारे अनुसार ही हमसे व्यवहार करे। मुझे सिखाओ पर मेरे तरीक़े से सिखाओ; कुछ नहीं सीख सकते तुम। ये ऐसी सी ही बात है कि तुम बुलडोज़र से कहो कि बेटा इमारत पर गुलाब जल छिड़कना पहले। और तुम्हें जो भी कुछ करना है गुलाब जल छिड़क-छिड़ककर ही करना। वो गुलाब जल छिड़कते ही रह जाएगा तो फिर काम कर चुका अपना।

समझ में आ रही है बात?

ये पहली बात बतायी, अभी और भी है। फिर जब लगे कि समझ गये तो भी सतर्क रहिए भीतरी माया से। क्योंकि उसका पहला उद्देश्य होता है आत्म संरक्षण, *सेल्फ़ प्रिज़र्वेशन*। वो आपको बहुत ज़ल्दी ये धोखा दे देती है कि आप जानकार हो गये, समझदार हो गये। क्योंकि अगर उसने आपको ये नहीं कहा कि तुम समझ गये, तो तुम अभी समझने की कोशिश फिर करते ही रहोगे। और समझने की कोशिश अहंकार के लिए घातक होती है। अहंकार तो नासमझी में ही, अंधेरे में ही पलता-बढ़ता है न? तो बहुत ज़ल्दी तुम्हें ये विश्वास दिला देना चाहता है कि तुम समझ गये। तो अब हम क्या करेंगे? हम जाँचेंगे, हम कैसे जाँचेंगे?

आप गणित पढ़ते थे, तो पहले उसमें थ्योरी आती थी, वो बहुत आसान होती थी — या भौतिकी में, फ़िज़िक्स में —

लगता था ठीक है, चार-पाँच पन्ने की थ्योरी है। उसके बाद कैसे जाँचते थे, कुछ समझे कि नहीं समझे? उसके बाद आते थे न्यूमेरिकल , धाएं! उसका क्या मतलब होता है? उसका मतलब होता है प्रयोग, *ऐप्लिकेशन*। कुछ अगर वाक़ई सीखा है तो उसका प्रयोग भी तो देखो कर पा रहे हो कि नहीं, प्रयोग कुछ हो रहा है। और प्रयोग की भी जो फिर स्थितियाँ होती हैं, वो वास्तविक जीवन में अति-जटिल होती हैं।

वहाँ फिर इतना ही कह देने से काम नहीं चल जाता कि पेंडुलम का टाइम पीरियड होता है $2\pi \sqrt{L/g}$। वहाँ फिर तुम्हें ऐसा सवाल दे दिया जाएगा कि एक पृथ्वी है तुम्हारी, पृथ्वी को उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक उसमें एक सुरंग खोद दी गयी है और सुरंग में एक गेंद डाल दी गयी है। अब बताओ सुरंग में क्या करेगी गेंद? क्या करेगी गेंद? सिंपल हार्मोनिक मोशन (सरल आवर्त गति) करेगी गेंद, चलो उसका टाइम पीरियड निकालो। ये क्या हो गया, ये क्या हो गया?

वास्तविक जीवन, रियल लाइफ ऐसे ही जटिल होती है, उसमें कई तरह की चीज़ें एकसाथ समाविष्ट हो जाती हैं। अब तुम्हें थ्योरी ऑफ ग्रैविटेशन भी पता होनी चाहिए और तुमको सिंपल हार्मोनिक मोशन भी पता होना चाहिए। कई तरह की बातें हैं जो समरस हो रही हैं, जो एकसाथ आ रही हैं। तुम अगर पाओ कि तुम्हारा ज्ञान इन सब जटिलताओं के मध्य तुम्हें समाधान तक पहुँचने में मदद कर रहा है तो मानना कि समझे।

नहीं तो ये बहुत सस्ती समझ है कि किसी समझाने वाले के सामने बैठ गये, उसने कुछ शब्द दे दिए, और तुमने कहा, ये जो शब्द बोले गये हैं, क्या मैं इन शब्दों को जानता हूँ? जानता हूँ से माने मैं क्या इनका अनुवाद कर ले रहा हूँ अपनी भाषा में? हाँ, अगर मैं अनुवाद कर ले रहा हूँ तो मैं कह दूँगा, दावा करूँगा कि मैं समझ गया। ऐसे नहीं होता न?

आपने सांख्ययोग के पैंतालिसवें श्लोक की बात करी है। तो श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि वेद सब प्रकृति के तीन गुणों की ही बात करते रह जाते हैं, और अर्जुन तुम्हें निस्त्रैगुण्य हो जाना है, प्रकृति के गुणों के आगे निकल जाना है। अब ये जो बात कह रहे हैं, इस बात में जितने शब्द हैं उन सब शब्दों के आप भाषाई अर्थ तो जानते ही हैं। तो अगर आपको अपनेआप को यही प्रमाणित करना है कि मैं समझ गया, तो आप बखूबी कर सकते हैं। बड़ी आसानी से आप कहेंगे, मैं प्रकृति का भी अर्थ जानता हूँ, मैं तीन गुणों का भी अर्थ जानता हूँ, मैं जानता हूँ वेद क्या होते हैं, और मैं ये भी जान रहा हूँ कि कह रहे हैं कि प्रकृति के तीन गुणों से आगे निकल जाओ अर्जुन। मैं समझ गया। ये लीजिए आपने अपनेआप को प्रमाण पत्र दे दिया। समझे क्या, कुछ भी नहीं।

और लोगों ने ग्रन्थों के साथ यही ग़लती या कहिए कि यही बेईमानी हमेशा से करी है। पूछते ही नहीं हैं कि ये जो बात कही गयी है, इस बात ने मेरे भीतर कुछ ध्वस्त करा भी या नहीं करा? कुछ भी ध्वस्त करा क्या? ध्वस्त कुछ हुआ नहीं, दावा ये है कि समझ गये। जो बात कही गयी है, उसका जीवन के यथार्थ में प्रयोग कर पा रहे नहीं, लेकिन दावा

यही है कि समझ गये।

तो ये मैंने आपको दो बातें कही हैं। पहली ये है कि जाँचिए कि चोट लगी कि नहीं लगी, कुछ टूटा कि नहीं टूटा। और दूसरा मैंने कहा कि देखिए कि जो भी चीज़ आप कह रहे हैं समझ गये, उसको आप जीवन में प्रयोग भी कर पा रहे हैं।

प्र: जी,

वृत्तियाँ क्या होती हैं?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, वृत्ति क्या होती है?

आचार्य प्रशांत: जो तुम्हें गोल-गोल फँसाये रखे सो वृत्ति। (हाथ से गोले का इशारा करते हुए) जो तुम्हें वर्तुल में घुमाये रखे, वृत्त में घुमाये रखे, सो वृत्ति। जिसमें चलते तो लगातार रहो, पर पहुँचो कभी नहीं, सो वृत्ति।

वृत्त समझती हो न?

इंग्लिश मीडियम हो? वृत्त माने ये वृत्त कहलाता है, ये (हाथ से गोल का संकेत करते हुए)। तो इसपर दौड़ते हैं, दौड़ते हैं और लगातार यही लग रहा है कि मंज़िल मिल ही जाएगी। क्यों? क्योंकि अभी रास्ता शेष दिख रहा है। इसको कहते हैं वृत्ति।

थोड़ी शॉपिंग (खरीदारी) और कर लें, ये बॉयफ्रेंड नहीं तो (कोई और) — ये वृत्ति है। चालीस से पचास, पचास से साठ, अस्सी, एक, दो, छः लाख, दस लाख, ये. . . (गोल-गोल का संकेत करते हुए)

जन्मे, मरे, जन्मे, मरे, जन्मे, मरे — ये (हाथ से गोल का संकेत करके)।

क्रोध, पछतावा, क्रोध, पछतावा, क्रोध, पछतावा — ये? (हाथ से वृत्त का संकेत करते हुए), उत्तेजना का उफान और फिर सूखा मैदान, ये वृत्ति। और वही चीज़ अपनेआप को बार-बार दोहरा रही है, दोहरा रही है, दोहरा रही है, इसी को सन्तों ने कालचक्र कहा है, जीवन-मरण का चक्र कहा है, चौरासी का फेरा कहा है। इसी से बार-बार बाहर निकलने की बात करी है।

जैसे कोई पागल बना रहा हो तुम्हें (मुस्कराते हुए), जैसे किसी ने बुद्धू बना दिया हो।

एक पिक्चर देखी थी मैंने — तुम लोग इस तरह के सवाल करते हो, अब कहाँ मैं उपनिषदों की बात करूँ, तो मैं पिक्चरों की बात करूँगा। तो उसमें था कादर खान और शक्ति कपूर — देखो, बात इसी तल पर तुम्हें समझ में आएगी — तो शक्ति कपूर जौनपुर से आया होता है, ठीक है, कहाँ? बम्बई। अब कादर खान एक कोने पर भिखारी बनकर बैठा हुआ है, ठीक? तो शक्ति कपूर जाता है कादर खान के पास, एक जगह का पता पूछता है। बोलता है, 'वहाँ कैसे जाना है?' कादर खान कहता है, 'जौनपुर के हो?' शक्ति कपूर कहता है, 'तुम तो अन्धे हो, तुम्हें कैसे पता?' बोलता है, 'वो चमेली का तेल लगाया है तुमने, तो ऐसे पता है मुझे।'

तो ये उससे पूछता है कि अच्छा वहाँ कैसे जाना है?' तो कादर खान कहता है, 'अच्छा, झुको तो बताता हूँ। पास आओ, गला ख़राब है', तो जैसे ही झुकता है, तो भिखारी ये खट् से चाकू निकालता है, बोलता है, 'जो माल है सब यहीं पर रख दो।

पूरा उसका सब माल-वाल — ये अपनी अटैची लेकर आ रहे होते हैं उत्तर प्रदेश से — वो सब माल-वाल उसका वो अन्धा भिखारी बम्बई का, वहीं रखवा लेता है। और कहता है, 'कपड़े-वपड़े भी उतार दो, सब अपना उतार देता है।'

तो शक्ति कपूर फिर कहता है कि अब सब लूट तो लिया ही है, मुझे जहाँ जाना है वहाँ का रास्ता तो बता दो। लुटने के बाद किससे प्रश्न पूछ रहा है? जिसने लूटा है उसी से, कि जहाँ जाना है वहाँ का रास्ता तो बता दो।

तो कादर खान कहता है, 'ऐसा करो, इधर जाओ' (दायीं ओर संकेत करते हुए); शक्ति कपूर बोलता है 'ठीक है'। बोलता है, 'फिर वहाँ से दायें मुड़ना, फिर वहाँ से लाल बत्ती आएगी, वहाँ से फिर दायें मुड़ना, फिर आगे जाना, वहाँ तिराहा आएगा, वहाँ से उधर को जाना, फिर वहाँ से बायें मुड़ना', वो कहता है, 'फिर?' बोलता है, 'फिर, तुम ठीक फिर वहीं आ जाओगे मेरे सामने।' (श्रोतागण हँसते हुए)

तो शक्ति कपूर बोलता है, 'तुम्हारे सामने दोबारा क्यों आऊँगा?' कादर खान बोलता है — ध्यान देना — 'ताकि मैं तुम्हें दोबारा लूट लूँ।'

ये वृत्ति है।

एक बार जिसके हाथों लुटे, उसी से दोबारा लुटने की उत्सुकता को कहते हैं वृत्ति। एक बार जो ग़लती करी, उसी ग़लती को दोहराने की आदत को कहते हैं वृत्ति।

कादर खान लूट रहा है शक्ति कपूर को, और शक्ति कपूर कादर खान से ही पूछ रहा है कि लूट तो लिया, अब मुझे मेरी मंज़िल का रास्ता भी बता दो। और वो भी खुलेआम बता रहा है; बोल रहा है, ‘इधर जाओ, उधर जाओ, उधर जाओ, उधर जाओ और फिर घूम-फिरकर के मेरे पास वापस आ जाओ।‘ और वो पूछ रहा है, ‘तुम्हारे पास क्यों वापस आ जाऊँ?’ तो कह रहा है, ‘ताकि मैं तुम्हें दोबारा लूट लूँ।’

और वो बात मज़ाक की थी। मैंने कहा, ये बात तो आध्यात्मिक है, आप ऐसे ही समझेंगी।

समझ में आ रही है बात?

जिस दुकान पर एक बार लुटे, उसी दुकान पर बार-बार जाना कहलाती है वृत्ति।

प्र: आचार्य जी, फिर तो ये आदत हो गयी?

आचार्य: वही है, वृत्ति आदत है। तुम्हारी पुरानी-से-पुरानी आदत का नाम है वृत्ति।

इतने हल्के में मत लो माया को

प्रश्नकर्ता: मैं एक धार्मिक परिवार से हूँ, छोटी उम्र से ही परिवार में मुझे सत्संग, कीर्तन वगैरह का माहौल मिला। आपसे जाना है कि संगत, शास्त्र, भजन-कीर्तन जीवन को ऊँचा उठाते ही हैं। पर मैं तो अभी भी ख़ुद को बहुत

पिछड़ा पाता हूँ जबकि बचपन से ही घर में माहौल धार्मिक रहा। तो क्या सुसंगति और शास्त्र मेरे काम नहीं आ पाये, क्या मैं बेईमान था या किसी जीवित मार्गदर्शक की कमी थी? कृपया समझाएँ।

आचार्य प्रशांत: कई बातें समझनी पड़ेंगी इसमें — परिवार क्या है? धर्म क्या है? आध्यात्मिक उन्नति क्या है? इन सब बातों को समझने के लिए जानना पड़ेगा कि इंसान क्या है।

देखिए, शरीर से इंसान पशु है। पशु माने एक सीमित चेतना का जीव, एक जीव जिसकी चेतना एक दायरे में क़ैद है और वो उस दायरे में सन्तुष्ट है। उसके भीतर कोई इच्छा ही नहीं है कि वो अपने दायरे का उल्लंघन करे। उसकी चेतना किसी पार का, किसी असीम का, किसी उड़ान का ख़्वाब देखती ही नहीं, यह पशु है। यह पशु की परिभाषा है।

तो जो जीव अपने जीवन के दायरों में क़ैद हो और उस क़ैद के भीतर ही एक तृप्त, सन्तुष्ट ज़िन्दगी बिता रहा हो उसको जानवर कहते हैं। ठीक है? जानवर क्यों, क्योंकि उस क़ैद में सन्तुष्ट रहता है, क्योंकि उसकी शारीरिक वृत्तियाँ उसको संचालित करती हैं, उसकी शारीरिक वृत्तियाँ उसकी चेतना पर हावी रहती हैं। उसको कोई इच्छा आती ही नहीं कि वृत्तियों से दूर जाकर, वृत्तियों से आज़ाद होकर जिये। उसका अहम् वृत्तियों से जुड़ा हुआ है, वृत्तियों से बँधा है, घिरा है, आच्छादित है। किसी भी तरह की मुक्ति की उसमें कोई कामना नहीं है।

ये सब वृत्तियाँ शारीरिक हैं, वो सारी शारीरिक वृत्तियाँ इंसान में भी होती हैं। ठीक है न? तो इंसान बहुत सारे वो काम करेगा-ही-करेगा जो कोई पशु करता है क्योंकि वृत्तियों के तल पर आदमी और पशु बिलकुल एक हैं। जैसे एक जानवर के बच्चे का जन्म होता है वैसे एक इंसान के बच्चे का जन्म होता है। जैसे एक जानवर का बच्चा सुरक्षा माँगता है, भोजन माँगता है, माँ माँगता है, वैसे ही एक इंसान का बच्चा माँगता है।

दिखने में भी इंसान में और जानवर में क्या अन्तर है? अभी लॉकडाउन के बाद बहुत लोग जब घरों से बाहर निकले होंगे तो जानवर जैसे ही दिख रहे होंगे। बाल-वाल बढ़ आये, आपको जंगल में छोड़ दिया जाए, ज़्यादा नहीं, बस दो-चार महीने को, कपड़े फट जाएँ, आप कैसे कह पाएँगे कि आप जानवरों से भिन्न हैं?

ये तो हमने अपनी खाल के ऊपर बहुत सारे प्रयोग कर-करके अपनेआप को जानवरों से अलग दिखने वाला बना दिया है, अलग हैं नहीं। जंगल में आदमी को अभी भी छोड़ दिया जाए तो जंगली ही है। तो शरीर के तल पर हम भी जानवर हैं।

आदमी और जानवर में अन्तर ये है कि आदमी की चेतना के पास ये विकल्प होता है कि वो शारीरिक वृत्तियों से जुड़ी रहे या शारीरिक वृत्तियों से जूझ जाए।

जानवर की चेतना बड़ी क्षीण होती है, बड़ी दुर्बल होती है; उसके पास ये विकल्प होता ही नहीं। जानवर की चेतना को अपनी वृत्तियों से जुड़ना ही है, माने अपनी वृत्तियों से हार माननी ही है। और जानवर इतनी बुरी तरह हारा होता है अपनी वृत्तियों, अपने शरीर के सामने कि उस हार के अलावा भी कुछ हो सकता है जीवन में, इसका उसे झीना सा, धुँधला सा एहसास भी नहीं होता।

एक जीव है, यूँही साधारण, उसको जहाँ लगता है वहीं मल त्याग कर देता है, जहाँ भोजन दिखता है खा लेता है, कामवासना उठती है तो नर-मादा साथ हो लेते हैं। जहाँ जगह मिली वहीं पर सो लिया, कहीं घोसला बना लिया, कहीं माँद खोज ली। और सब जानवर अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार व्यवहार करते हैं, उनके पास अपनी प्रकृति से हटने का कोई तरीक़ा नहीं है।

कौआ काँव-काँव नहीं बोलेगा तो क्या करेगा! आपने कभी कोई शाकाहारी शेर तो देखा नहीं होगा। अब शेर की प्रकृति है माँसाहार तो माँसाहार करेगा-ही-करेगा, कोई विकल्प नहीं है। जानवर की चेतना जानवर के शरीर से एकदम हारी हुई है, पिटी हुई है, दबी हुई है। जो कुछ शरीर कराएगा, जानवर की चेतना करेगी। किसी शेर को कभी यह भीतर से प्रश्न नहीं उठेगा, ग्लानि नहीं उठेगी कि मैने क्यों एक नन्हें, भोले हिरण के छौने को मार दिया। उसका शरीर उसकी चेतना में यह सवाल उठने ही नहीं देगा। हम कह रहे हैं न उसकी चेतना उसके शरीर के आगे बड़ी अशक्त है, कमज़ोर। तो ये जानवर की स्थिति होती है।

आदमी बहुत हद तक जानवर जैसा है बल्कि ये कह लीजिए कि आदमी के पास विकल्प है कि वो जानवर जैसा भी हो सकता है। लेकिन आदमी की चेतना सशक्त है या ये कह लीजिए कि आदमी की चेतना के पास विकल्प है कि वो सशक्त हो सकती है। तो आदमी की चेतना के पास ये विकल्प है कि वो या तो जानवर की तरह हो जाए और शरीर के आगे घुटने टेक दे, या वो शरीर से लड़े, शरीर के विरुद्ध जाए। या तो शरीर से, हमने कहा, जुड़ जाए या शरीर से जूझ जाए। जानवर के पास एक ही विकल्प है – शरीर से जुड़ जाए। आदमी के पास दो हैं – शरीर से जुड़ जाओ या शरीर से जूझ जाओ।

अब आते हैं परिवार पर। तो परिवार सब जानवरों का होता है, होता है न? चूँकि सब जानवरों का परिवार होता है इसीलिए आदमी का भी परिवार होता है। तो ये जो परिवार की संस्था है, ये वास्तव में सामाजिक नहीं है, ये जैविक है, ये शारीरिक है। आप जंगलों में जाइए, आप समुद्रों में जाइए, क्या वहाँ आपको परिवार नहीं मिलते?

तो ये कहना कि परिवार एक सामाजिक इकाई है, ये कोई बहुत समझदारी की बात नहीं है। समाज हो या न हो, परिवार तो रहते ही हैं, जंगलों में भी परिवार होते हैं। जंगल जाइए, वहाँ पर आपको सिंहों के परिवार दिख जाएँगे,

सड़क पर आपको कुत्तों के भी परिवार दिख जाएँगे, जंगलों में आपको हाथियों का समुदाय दिखायी दे जाएगा। उसमें कहाँ किसी ने उनको सामाजिक ज्ञान की शिक्षा दी है, कहाँ किसी ने उनको नैतिकता सिखायी है। कहाँ किसी ने कोई नियम बनाया है, कोई सामाजिक स्मृति या क़ायदा स्थापित किया है। नहीं, कुछ नहीं। बिना किसी के सिखाये-पढ़ाये भी परिवार अस्तित्वमान रहता है।

तो चूँकि आदमी के पास जानवर होने का विकल्प है, चूँकि आदमी बहुत हद तक जानवर है ही, इसीलिए आदमी के पास भी परिवार होगा ही। ऐसा ही समझ लीजिए कि परिवार का मतलब होता है वो रिश्ते-नाते जो शरीर के होते हैं, ठीक है? तो जहाँ शरीर है, वहाँ परिवार का होना लाज़िमी है, है न? और पशु क्या है, वो जो पूरी तरह शरीर ही बनकर जीता है या जो अधिकांशत: शरीर बनकर जीता है उसका नाम पशु है।

तो इसीलिए आप इंसानों में भी पाते हैं कि जिसको हम परिवार कहते हैं, परिवार माने यही न कि चार पाँच या सात लोग इकट्ठे रह रहे हैं या दो लोग इकट्ठे रह रहे हैं। उन सबमें क्या साझा होता है? अच्छा बताइए, आप चले जाइए किसी मोहल्ले में, किसी सोसाइटी में, कहीं भी, ठीक है न? वहाँ आपको भाँति-भाँति के परिवार मिलेंगे। कहीं आपको दो लोगों का परिवार मिल जाएगा। और कहीं हो सकता है आपको संयुक्त परिवार मिल जाए, उसमें दस-बारह लोग भी रहते हों, पंद्रह लोग भी रहते हों। कहीं परिवार हो सकता है जिसमें सब बुज़ुर्ग-ही-बुज़ुर्ग हों, बस एक या दो जवान लोग हों। कई परिवार हो सकता है जहाँ पर बस एक वयस्क है और सात-आठ बच्चे हैं, पति की या पत्नी की मृत्यु हो गयी है तो एक आदमी है और पाँच बच्चों को सम्भाल रहा है। तो कई तरह की आपको जोड़ियाँ मिल सकती हैं।

परिवार माने मनुष्यों का समूह। वो समूह आपको मिल सकता है और तरह-तरह के समूह होंगे, उनमें बड़ी भिन्नता होगी। पर वो समूह कैसा भी हो, सब समूहों में आपको एक बात साझा मिलेगी, क्या? लोगों के आपस में जुड़ने का जो आधार होगा वो शारीरिक होगा। परिवार माने आदमी और आदमी शारीरिक आधार पर माने पाशविक आधार पर जुड़ा हुआ है, ठीक है।

ये परिवार की बिलकुल मूलभूत परिभाषा है, एकदम जैविक परिभाषा, क्योंकि परिवार की संस्था देखिए आयी ही वहीं से है। तो इसलिए इस परिभाषा को ध्यान में रखना बहुत ज़रूरी है। परिवार जंगल से उठा है, परिवार शरीर से उठा है तो इसलिए ये जानना ज़रूरी है कि जंगल, शरीर और जानवर इन तीनों का बहुत गहरा सम्बन्ध है परिवार से।

आपको कोई परिवार नहीं मिलेगा जहाँ पर लोग हैं और वो आपस में शरीर का कोई रिश्ता नहीं रखते। मान लीजिए चार दोस्त साथ रह रहे हों तो उनको आप परिवार तो नहीं बोलते या बोल देते हैं? कहिए, नहीं बोलते न? लेकिन एक आदमी-औरत साथ रहने लग जाएँ तो आप कहते हैं परिवार होगा, क्यों? क्योंकि बहुत सम्भावना है कि उनमें शारीरिक रिश्ता होगा।

आप यूँही किन्हीं अजनबियों के साथ बहुत दोस्ती कर लें या कुछ बच्चे हों, उनके साथ आपका बड़ा क़रीबी रिश्ता बन जाए तो भी आप सामान्यतः ये नहीं कहेंगे कि ये परिवार है। हाँ, आप थोड़ा-सा अतिशयोक्ति के तौर पर, मुहावरे के तौर पर ऐसा बोल सकते हैं कि ये मेरे परिवार हैं, फैमिली हैं। लेकिन वो बस एक कहने का तरीक़ा होगा, आप भी जानते होंगे कि परिवार तो नहीं हो गया। जिन लोगों से शारीरिक रिश्ता नहीं, उनसे आप बड़े घनिष्ट हो जाएँ, बड़े अंतरंग हो जाएँ तो भी नहीं कहेंगे कि परिवार है। लेकिन जिनसे आपका शारीरिक रिश्ता है उनसे आपकी रोज़ मुठभेड़ होती हो, रोज़ जूतम-जूता होती हो, रोज़ गाली-गलौज होती हो तो भी आप कहेंगे कि परिवार है?

ये बात आपको बिलकुल साफ़ कर देगी कि परिवार का आधार क्या है। बात समझ रहे हैं? चार दोस्त साथ रहते हों और वो ऐसे हों कि एक-दूसरे पर जान छिड़कते हों, एक-दूसरे के लिए भाई से बढ़कर हों, वो तो भी नहीं कहते हैं कि वो परिवार हैं।

मान लीजिए जनगणना चल रही है, ठीक है? और जनगणना करने वाला कर्मी दरवाज़े पर आया और दरवाज़ा खटखटाया और पूछा यहाँ कितने लोग रहते हैं। बताया गया चार लोग रहते हैं और हम चार मित्र हैं, तो आपको क्या लग रहा है कि सरकार और समाज उन चार लोगों की गणना एक परिवार के रूप में करेंगे? बिलकुल नहीं करेंगे, भले ही वो चार लोग, मैं कह रहा हूँ, ऐसे हों कि एक-दूसरे पर जान छिड़कते हों। तो जान छिड़क रहे हैं लेकिन शारीरिक सम्बन्ध नहीं है तो परिवार नहीं कहलाएँगे।

अब एक दूसरा दरवाज़ा देख लीजिए, बगल का घर, वहाँ चार लोग रहते हैं जो एक-दूसरे के ख़ून के प्यासे हैं, रोज़ एक-दूसरे का सिर फोड़ते हैं। लेकिन एक पुरुष है, एक स्त्री, उनमें शारीरिक सम्बन्ध है। और उनके शारीरिक सम्बन्ध के कारण स्त्री ने दो बच्चों को जन्म दिया है तो वहाँ भी शारीरिक सम्बन्ध है। तो वो चारों परिवार कहला जाएँगे।

तो आप समझ गए न कि परिवार माने क्या? परिवार माने रक्त का रिश्ता, परिवार माने चमड़ी का रिश्ता, परिवार माने देह का रिश्ता। आवश्यक नहीं है कि परिवार माने प्रेम का रिश्ता। अभी जो हमने दूसरा घर देखा, उसमें क्या प्रेम का रिश्ता है? प्रेम का रिश्ता नहीं है लेकिन फिर भी वो क्या कहला रहा है? परिवार। और हमने जिस पहले घर की चर्चा की, उसमें प्रेम तो ख़ूब है न। लेकिन क्या वो परिवार कहला रहा है? वो परिवार नहीं कहला रहा है, क्योंकि उसमें क्या नहीं है? शरीर का रिश्ता नहीं है। तो देखिए, अच्छा लगे या बुरा लगे, सच, सच होता है, सच की बात होनी चाहिए।

परिवार का आधार जिस्म है, परिवार का आधार शरीर है और परिवार का आधार शरीर इसलिए है क्योंकि आदमी

अभी भी बहुत हद तक जानवर है। जानवर एक-दूसरे से शरीर का ही रिश्ता बनाते हैं और शारीरिक रूप से सम्बद्ध जो जानवर होते हैं वो साथ-साथ रहते हैं कभी दो महीने को, कभी सालभर को, कभी बहुत लम्बे समय तक, उसी को परिवार कहा जाता है। भेड़िया परिवार हो गया, गौरैया परिवार हो गया, मछलियों का परिवार हो गया, ये सब परिवार होते हैं। तो जैसे वहाँ परिवार होते हैं वैसे यहाँ भी परिवार होते हैं। ठीक है? तो ये तो बात हो गयी परिवार की।

अब आप कह रहे हैं कि आप एक धार्मिक परिवार से हैं, कह रहे हैं बचपन से ही सत्संग, कीर्तन का माहौल मिला। तो आपके अनुसार 'आचार्य जी, जहाँ सत्संग है, कीर्तन है, वहाँ आध्यात्मिक प्रगति होनी चाहिए।' लेकिन प्रश्नकर्ता कह रहे हैं कि मेरी तो कोई आध्यात्मिक प्रगति ख़ास हुई नहीं, मैं बड़ा पिछड़ा पाता हूँ अपनेआप को। तो ऐसा क्यों हुआ?

देखिए, समझिएगा बात को। माया को हम बहुत हल्के में ले लेते हैं, हम सोचते हैं कि यूँही कुछ थोड़ा-बहुत उससे हम संघर्ष कर लेंगे, यूँही हम उसको कुछ मौखिक चुनौती दे लेंगे, टोकन रेज़िस्टेंस (सांकेतिक प्रतिरोध), तो काम चल जाएगा। ऐसा होता नहीं है।

हमारी रग-रग में घूम रही है माया, नख-शिख माया हम पर चढ़ी हुई है पूरे तरीक़े से।

माया माने क्या होता है? माया माने वो सबकुछ जो आपकी चेतना को दुख देता है, जो आपकी चेतना को बन्धन में रखता है।

ये मूल परिभाषाएँ स्पष्ट होनी चाहिए। अध्यात्म विज्ञान है। जैसे विज्ञान में परिभाषाएँ बिलकुल स्पष्ट होनी चाहिए, साफ़, पत्थर की लकीर की तरह, उसी तरह अध्यात्म में भी स्पष्ट होनी चाहिए। यूँही कुछ हवा-हवाई, धुँधली बात कर देने से आपको मुक्ति नहीं मिल जानी है। यहाँ जीवन-मरण का सवाल है, यहाँ पर तो सारी जो बात है वो बिलकुल सटीक होनी चाहिए, एकदम धारदार होनी चाहिए, साफ़-साफ़ होनी चाहिए न।

तो जब हम कहते हैं, 'माया, माया।' माया माने क्या? माया की परिभाषा है वो जो कुछ आपकी चेतना को रोके रहता है, बाँधे रहता है, आज़ाद नहीं होने देता, उसको माया कहते हैं। ठीक है? ये माया है। अब आपने कहा, 'परिवार में भजन-कीर्तन होता था तो भी मेरे ऊपर माया चढ़ी हुई है, मैं मुक्त क्यों नहीं हो पाया?'

देखिए, परिवार मूलतः माया का ही प्रतिनिधि है। माया माने वो सबकुछ न, जो आपकी चेतना को बाँधे रखता है! आपकी चेतना को क्या बाँधे रखती हैं? शारीरिक वृत्तियाँ। शारीरिक वृत्तियाँ ही चेतना को बाँधे रखती हैं और शारीरिक वृत्तियाँ ही परिवार को एक रखती हैं। तो परिवार फिर क्या है, शारीरिक वृत्तियों की अभिव्यक्ति ही तो है। शारीरिक रिश्ता न हो तो कितने आदमी-औरत एक साथ रहेंगे, बोलिए।

माँ की ममता की हम बहुत बात करते हैं पर उसकी ममता भी उन्हीं बच्चों के लिए होती है न जो उसके शरीर से उत्पन्न हैं। तो परिवार को एक रखने वाली जो गोंद है, परिवार को एक में बाँधकर रखने वाली जो रस्सी है, वही क्या है? वही शारीरिक है, उसी का नाम तो माया है। आपको समीकरण स्पष्ट हो रहा है?

आपकी चेतना को जो चीज़ दबा कर रखे है उसका क्या नाम है? माया। हमारी चेतना को क्या चीज़ दबा कर रखती हैं? हमारी शारीरिक वृत्तियाँ। और वही शारीरिक वृत्तियाँ अभिव्यक्त होती हैं परिवार के रूप में। तो परिवार अपनेआप में शरीर ही तो है। कई शरीर एक साथ इकट्ठा हो गये हैं क्योंकि उन्हें शरीर भाव से ही एक-दूसरे को देखना है।

पुरुष स्त्री को आत्मा की तरह नहीं देख रहा है, स्त्री की तरह देख रहा है तो उसको बोलता है मेरी पत्नी है। अगर पुरुष को स्त्री में आत्मा दिखायी दे रही होती तो उसे पत्नी कैसे बोल सकता था? आत्मा का तो कोई लिंग होता नहीं, पत्नी कैसे हो गयी? स्त्री को पुरुष में आत्मा दिखायी देती होती तो पति कैसे बोल देती? आत्मा का तो लिंग होता नहीं, तुमने कैसे पतिदेव बना दिया और कहने लग गयी कि ये मेरा शौहर है, ये मेरा आदमी है, कैसे? इसका मतलब ही यही है कि परिवार इकट्ठा ही तब होता है जब शरीरभाव होता है, देहभाव होता है, है न?

तो परिवार अपनेआप में माया है। परिवार की जो इकाई है, परिवार की जो संरचना है, वो अपनेआप में मायावी है। अब आप इस मायावी संरचना के बीचों-बीच हैं, आप कह रहे हैं कि मैं बच्चा हूँ, मैं परिवार के बीचों-बीच हूँ लेकिन साहब मेरा परिवार धार्मिक है तो वहाँ भजन-कीर्तन होता है। उसके बाद आपको ताज्जुब हो रहा है कि भजन-कीर्तन होता है लेकिन मुझे आज़ादी क्यों नहीं मिली।

दादा, माया इतनी हल्की नहीं है न कि तुम उसे 'ओम जय जगदीश हरे' कर दोगे तो हार जाएगी? परिवार में जो भजन-कीर्तन होता है वो क्या होता है? सांझ को दादा-दादी, बच्चे सब खड़े हो गये और 'स्वामी जय जगदीश हरे' कर दिया, आरती कर दी। तुम्हें लग रहा है इससे तुम आध्यात्मिक प्रगति कर जाओगे, तुम्हें लग रहा है इससे तुम्हारी चेतना को ऊँचाइयाँ और उड़ान मिल जाएगी, कैसे बाबा?

इसका मतलब ये है कि हम अपने दुश्मन को समझते ही नहीं हैं और दुश्मन को न समझना, दुश्मन की ताक़त का पूरा अनुमान न रखना, दुश्मन से हारने की पूरी तैयारी होती है। ये तो छोड़िए कि हमें दुश्मन का ज्ञान है, हमें तो दुश्मन का अनुमान भी नहीं है। तो हम सोच रहे हैं कि ऐसे ही थोड़ा कर दिया, दीया जला दिया, धूप-बत्ती फेर दी तो इससे हम माया को जीत लेंगे। कैसे जीत लोगे बाबा?

देखो, मैं बिलकुल मानता हूँ कि किसी घर में ज़रा भी धार्मिकता न हो उससे तो बेहतर ही है कि दो-चार आरती हो जाए, कुछ भजन हो जाए, कुछ कीर्तन हो जाए, कहीं कोई बैठकर थोड़ा सा गीता का, भागवत का कुछ पाठ कर दे। वो ठीक है। उसको आप कह सकते हैं कि कुछ नहीं से कुछ भला।

लेकिन ये जो 'कुछ नहीं से कुछ भला' है इससे आपको मुक्ति नहीं मिल जानी है। ये तो ऐसे ही है बस, खानापूर्ति है। ये तो ऐसा ही है कि कोई मर गया तो श्रद्धांजलि दे आये, उससे वो ज़िन्दा थोड़ी हो जाएगा! मरे हुए को आप जाकर बोल दो बड़े अच्छे आदमी थे तो इससे वो ज़िन्दा हो जाता है? नहीं, ये तो कुछ नहीं है, यूँही थोड़ा सा आपने कह दिया कुछ।

माया के ख़िलाफ़ ज़बरदस्त संघर्ष करना पड़ता है, जीवनभर संघर्ष करना पड़ता है। वो इतनी कमज़ोर नहीं है, वो इतनी लिबलिबी नहीं है कि आप यूँही जाकर के दिन के आधे घंटे कुछ ध्यान कर देंगे, कुछ भक्ति बता देंगे, कुछ थोड़ा-बहुत ज्ञान चर्चा कर देंगे या कहीं इधर-उधर जाकर बाबाजी के यहाँ पर कथा सुन आये, सत्संग कर आये तो उससे माया को आप हरा लेंगे। ऐसा थोड़े ही होता है, पूरी जान लगानी पड़ती है, भाई।

अच्छा, एक बात बताओ मुझे, सौ फीट गहरा पानी है कहीं पर, ठीक है? और आपके पास एक रस्सी है। आप उस सौ फीट गहरे पानी में नीचे पहुँच गये, तल पर पहुँच गये बिलकुल। आपके ऊपर कितना पानी है? सौ फीट पानी है। आपके पास एक रस्सी है, आप उम्मीद कर रहे हो कि वो रस्सी आपको तार देगी, ठीक है? वो रस्सी अगर बस पाँच फीट लम्बी है तो आप बच जाओगे? बोलो, बच जाओगे? नहीं बचोगे न।

ये जो पानी है जिसमें आप डूबे हुए हो, इसी को भवसागर बोलते हैं। हम सब इसमें डूबे हुए हैं। धर्म वो रस्सी है जो हमें बचा सकता है पर धर्म हमारी चेतना की तड़प के बराबर ही होता है।

हमारी धार्मिकता हमारी मुमुक्षा पर निर्भर करती है न। आपकी धार्मिकता बस उतनी ही गहरी होगी जितनी कि आज़ाद होने के लिए आपकी तड़प।

अब आपका बन्धन तो है सौ फीट गहरा और आज़ाद होने की जो आपकी तड़प है उसमें बस पाँच फीट की गहराई है तो आप कैसे आज़ाद हो जाओगे? नहीं हो पाओगे, नहीं पाओगे न? तो आप मर गये, आप डूब गये। इसी को कहते हैं कि संसार सागर में डूब मरा, ख़त्म हो गया।

अच्छा, चलिए पाँच फीट की रस्सी नहीं है आपके पास, आपकी धार्मिकता थोड़ी और प्रबल हुई। पाँच फीट वाला वो घर हो गया जिसमें बस होली-दिवाली में दीया जलता है। आप थोड़े और ज़्यादा धार्मिक परिवार से हो, ठीक है? और उस धार्मिक परिवार में होली-दिवाली ही नहीं जलता, हर महीने हो जाता है या हर एकादशी पर हो जाता है। तो

आपकी रस्सी जो है, वो पचास फीट लम्बी है। बच जाओगे? अभी भी नहीं बचोगे। और जो मौत होगी, वो पाँच फीट वाली रस्सी की ज़्यादा होगी और पचास फीट वाली जो रस्सी है उस मामले में थोड़ी कम होगी क्या? मौत तो मौत होती है न!

भई, आप बिलकुल तल पर बैठे हुए थे, आपके ऊपर सौ फीट पानी था, किसी ने ऊपर से पाँच फीट की रस्सी डाली, आप मर गये। एक मौत ये है। दूसरी मौत ये है कि आप तल पर हो, ऊपर से किसी ने पचास फीट की रस्सी डाली, आप मर गये। क्या जो दूसरी मौत है वो पहली मौत से आधी मौत है, कम मौत है? मौत तो मौत है। मौत तो पूरी है, आप मर गये।

अब थोड़ा सा आप और धार्मिक परिवार में हो, वहाँ प्रतिदिन पाठ वगैरह होता है तो आपकी जो रस्सी है वो अस्सी फीट लम्बी है। लेकिन अभी भी आपको मौत उतनी ही बदतर मिलेगी जितनी पाँच फीट वाले को मिली। ठीक? आप और धार्मिक परिवार से हो, वहाँ पर टीका भी किया जाता है, तमाम तरह के संस्कारों का पालन किया जाता है, लगातार रामधुन चलती रहती है। इनकी जो रस्सी है वो निन्यानवे फीट लम्बी है। लेकिन मौत तो इनकी भी उतनी ही भयावह होगी जितनी पाँच फीट रस्सी वाले की हुई थी।

तो आपकी धार्मिकता में माया से ज़्यादा गहराई होनी चाहिए। माया की गहराई तो पहले से तय है। माया की गहराई कहाँ बैठी हुई है? माया की गहराई बैठी हुई है शरीर के अन्दर। माया सौ फिट गहरे सागर में या पानी में आपको डुबो देना चाहती है तो माया की गहराई तो तय है। आपकी धार्मिकता में कितनी गहराई है? सब डूबेंगे! थोड़े-बहुत से काम नहीं चलेगा। सब डूबते हैं। बचता तो बस वो है जिसके भीतर बड़ी अदम्य इच्छा हो तर जाने की। उसकी धार्मिकता में फिर जान होती है।

लेकिन अब गड़बड़ क्या होती है, समझिएगा। पाँच फीट का जिसका धर्म था उसने देखा कि जो पचास फीट वाला है वो भी मर रहा है। तो उसने कहा, 'इसका मतलब ये है कि धर्म में जान ही नहीं होती तो मैं पाँच फीट वाली धार्मिकता भी क्यों करूँ, मैं कम कर दूँगा और।'

जिसकी पचास फीट की धार्मिकता थी, उसने देखा कि जिसकी निन्यानवे फीट की धार्मिकता है वो भी मर रहा है, बच तो वो भी नहीं रहा तो उसने भी कहा, 'भगवान कुछ होता ही नहीं, धर्म से कोई फ़ायदा ही नहीं है, हम तो देख रहे हैं बड़े-बड़े धार्मिक लोग ख़त्म हुए जा रहे हैं तो मैं अपनी पचास फीट की धार्मिकता भी काहे को रखूँ।' उसने वो भी बन्द कर दी। अपने-अपने तर्क हैं भाई!

इनको ये बात समझ में नहीं आयी कि जब तक सौ फीट नहीं जाओगे, कुछ होगा नहीं। और सौ से नीचे जितने हैं, सब

एक बराबर हैं। अस्सी, सत्तर, बीस, पाँच, शून्य, सब एक बराबर हैं, सब मरेंगे। किसी ने ये नहीं समझा कि सौ पार करना है, इन्हें ये समझ में आया कि धर्म से कोई लाभ ही नहीं होता।

बिलकुल धर्म से कोई लाभ नहीं होगा जब तक सौ का आँकड़ा पार नहीं करोगे। हाँ, सौ का पार किया नहीं आँकड़ा कि लाभ होना तुरन्त शुरू हो जाएगा, तुम तरने लग जाओगे।

'तो ठीक है भाई, थोड़ी-बहुत धार्मिकता रखने से तो फिर अच्छा है कि एकदम ही मत रखो क्योंकि जिसकी रस्सी पचास फीट की है और जिसकी रस्सी पाँच फीट की है, दोनों एक सी बदतर मौत मरते हैं। तो इससे अच्छा है कि कुछ करो ही मत, कोई धार्मिकता मत रखो।' आज दुनिया इसी सिद्धान्त पर चल रही है, कि कुछ भी करने से फ़ायदा क्या, मरना तो सबको है।

नहीं, सबको नहीं मरना, कुछ अनिवार्य नहीं है। माया प्रबल है पर माया का ज़ोर एक बिन्दु पर जाकर के रुक जाता है। ठीक वैसे, जैसे शरीर से सम्बन्धित हर चीज़ का ज़ोर एक जगह जाकर रुक जाता है।

माया क्या है? हम ये पाँचवीं-आठवीं बार बोल रहे हैं इस चर्चा में, माया हमारी शारीरिक वृत्तियों का ज़ोर है न। शरीर से सम्बन्धित जितनी भी चीज़ें हैं, वो सब क्या हैं? सीमित। तो हमारी शारीरिक वृत्तियों का भी जो ज़ोर है वो क्या है? सीमित। तो कहीं-न-कहीं जाकर रुक जाता है, वो जहाँ जाकर रुक जाता है मैंने उसी बिन्दु का नाम दिया है सौ फीट।

तो शरीर आपके भीतर जो भावनाएँ उठाता रहता है, शरीर आपके भीतर जो आवेग-संवेग उठाता रहता है उनमें जान बहुत होती है, पर आपके लिए ख़ुशख़बरी ये है कि वो असीमित नहीं होते, उनकी ताक़त एक-न-एक जगह जाकर रुकती है। और जहाँ उनकी ताक़त रुकती है, उसके आगे आपकी फ़तह है। बस आपमें ये धैर्य होना चाहिए और आपमें ये तड़प होनी चाहिए कि शरीर से आगे निकल जाना है।

शरीर असीम-अनन्त नहीं है, शरीर तो हर तरीक़े से बँधा हुआ है तो उससे आगे निकला जा सकता है। जो उससे आगे निकल गया वो जीत जाएगा और जो वहीं पर हार मान गया, उसके लिए कोई उम्मीद नहीं है।

समझ में आ रही है बात?

तो आपने जो सवाल करा कि परिवार में भजन-कीर्तन होता था फिर भी मैं पिछड़ा हुआ हूँ, इससे यही पता चलता है कि आप ये सोच रहे हो कि आप टैंकों का मुकाबला तीर और भालों से कर लोगे। माया समझ लीजिए जैसे एक अत्याधुनिक टैंक है जिसमें इतना ज़बरदस्त आर्मर है, कवच है कि वो आण्विक हमला भी बर्दाश्त कर सकती है।

उसके आसपास आप एक न्यूकलियर (नाभिकीय) विस्फोट भी कर दें तो भी वो टैंक झेल जाएगा, माया वो है।

और उसके सामने आप कौनसा धर्म लेकर पहुँच गये हो? उसके सामने आपका धर्म ऐसा है कि धनुष-बाण, आप उस पर तीर मार रहे हो, भाला मार रहे हो, उसे पत्थर फेंक कर मार रहे हो। और फिर आप कह रहे हो, 'अरे! अरे! आचार्य जी, कुछ फ़ायदा नहीं हुआ, वो टैंक जीत गया।'

बाबा, टैंक दुर्जेय है पर अजेय नहीं है। अन्तर समझिएगा। दुर्जेय माने जिसे मुश्किल से जीता जा सकता है, अजेय माने जो जीता ही नहीं जा सकता। टैंक को जीता जा सकता है, दुनिया में आज तक ऐसा टैंक नहीं बना जो हराया नहीं जा सकता। पर उस टैंक को हराने के लिए उस टैंक से ज़्यादा बड़ा टैंक आपको खड़ा करना पड़ेगा न, मेहनत करनी पड़ेगी न उतनी, पूरा दिमाग लगाना पड़ेगा, पूरी जान लगानी पड़ेगी।

अब वो टैंक आप खड़ा कर नहीं रहे, उल्टे आप वहाँ पर कंकड़-पत्थर लेकर पहुँच गये हो, झाड़ू की सींक की तीर बनाकर के आप टैंक में मार रहे हो और उसके बाद बहुत बड़ा मुँह फुला करके दुनियाभर से शिक़ायत कर रहे हो कि 'अरे! हम तो बड़े धार्मिक थे; पर देखो हमें न समाधि मिली, न मुक्ति मिली।' कैसे मिल जाएगी? तुम्हें पता है कि तुम्हारा दुश्मन कौन है? वो इतना बड़ा टैंक है, उस टैंक का नाम ‘शरीर’ है।

और जैसा मैंने कहा, वो अत्याधुनिक टैंक है, तो हमारा जो शरीर है न वो अत्याधुनिक होता जा रहा है। शरीर में मस्तिष्क भी शामिल है न, मस्तिष्क अत्याधुनिक होता जा रहा है, ज़बरदस्त होता जा रहा है, ताक़तें ग्रहण करता जा रहा है। ये विज्ञान, ये टेक्नोलॉजी , ये दुनियाभर की सूचना, हर तरह का जो ज्ञान विकसित हो रहा है, ये सब क्या है? ये हमारी शारीरिक वृत्तियों की ताक़त बनता जा रहा है।

विज्ञान जो भी खोजें करता है, ज्ञान के क्षेत्र में जो भी शोध होते हैं, जो भी आदमी के हाथ जानकारियाँ लग रही हैं, वो सब किस काम आ रहे हैं? वो हमारी शारीरिक वृत्तियों की गुलामी करने के ही तो काम आ रहे हैं न। आपकी कोई नयी टेक्नोलॉजी आती है, आप उसका क्या करते हो? अपनी शरीर की माँगों की पूर्ति के लिए आप उस टेक्नोलॉजी का इस्तेमाल कर लेते हो। तो हमारा जो शरीर नाम का टैंक है ये बड़ा ज़बरदस्त होता जा रहा है। जब इतना ज़बरदस्त होता जा रहा है तो इसके सामने धर्म को भी फिर अत्याधुनिक होना पड़ेगा, धर्म को भी ज़बरदस्त होना पड़ेगा। और पुराने तरह का तुम 'ओम जय जगदीश हरे' करोगे तो बड़ा मुश्किल है।

आज तो नयी विधियाँ चाहिए, आज तो बड़ी सतर्कता चाहिए। तुम्हारा दुश्मन जो तुम्हारे ही भीतर बैठा हुआ है, वो बहुत प्रबल हो चुका है। उससे लड़ने के लिए तुम्हें आज का धर्म चाहिए, जिसके सिद्धान्त बहुत पुराने होंगे पर जिसका कलेवर, जिसका रूप-रंग, जिसके तौर-तरीक़े आज के समय के ही होने चाहिए न। वो अगर आज के

समय के नहीं हैं तो फिर तो तुम्हारी हार पक्की है, ठीक है?

प्र: क्या एक सत्संगी परिवार सम्भव है?

आचार्य: बिलकुल सम्भव है। पर फिर वो परिवार जैसा लगेगा नहीं न, वो परिवार जैसा लगेगा नहीं। जब आप कहते हैं परिवार 'में' रहकर मुक्ति चाहिए तो आप भूल ही जाते हैं कि मुक्ति का अर्थ ही होता है अपनी शारीरिकता से मुक्ति। और शारीरिकता से मुक्ति हो गयी अगर तो पत्नी को पत्नी कैसे बोलोगे और पति को पति कैसे बोलोगे? तो फिर कैसे बोलोगे कि मैं परिवार 'में' हूँ? ये वैसी सी बात हो गयी, 'क्या बेड़ियों में रहकर मुक्ति सम्भव है?' बेड़ियों में ही रहना है तो तुम्हें मुक्ति चाहिए किससे फिर?

तो मुक्ति सम्भव है और मुक्ति के बाद भी सम्भव है कि बहुत लोग एक साथ रहें, पर वो जो फिर एक साथ लोग रह रहे होंगे, वो बिलकुल वैसे नहीं रह रहे होंगे जैसे एक साधारण परिवार रहता है। वो साथ रहने का, सहवासिता का एक बिलकुल नया, ताज़ा, अद्भुत तरीक़ा होगा। उसकी हम कल्पना नहीं कर सकते, उसकी चर्चा भी करना मुश्किल है थोड़ा क्योंकि हम चर्चा करेंगे तो आप उसकी कल्पना करके उसकी नकल करनी शुरू कर दोगे।

इंसान को अध्यात्म थोड़ी बताता है कि बाक़ी इंसानों से दूर हो जाओ या बाक़ी इंसानों के साथ रह नहीं सकते। एक इंसान दूसरे इंसानों के साथ निश्चित रूप से रह सकता है। और जो दूसरे इंसान हैं वो किसी भी आयु वर्ग के हो सकते हैं, किसी भी रंग के हो सकते हैं, किसी भी नस्ल के हो सकते हैं, किसी भी लिंग के हो सकते हैं।

तो इंसान और इंसान निश्चित रूप से एक साथ वास कर सकते हैं। लेकिन फिर वो उनका जो इकट्ठापन है, वो जो उनकी एकजुटता है, वो जो उनका एकत्व है, वो इसलिए नहीं होगा क्योंकि वो एक-दूसरे को शरीर की तरह देखते हैं। तो आप उसे कहना चाहें तो एक आध्यात्मिक परिवार कह सकते हैं पर वो आध्यात्मिक परिवार बड़े अलग तरीक़े से काम करेगा। उसकी जो पूरी ठाठ होगी, उसके तौर-तरीक़े जो होंगे, उसके नैन-नक्श होंगे, वो एकदम अलग होंगे।

व्यर्थ चीज़ों और आदतों से कैसे बचें?

प्रश्नकर्ता: प्रणाम, आचार्य जी। मैं पिछले एक साल से आपको यूट्यूब के माध्यम से सुन रहा हूँ। उस पर आपके अहम् वृत्ति और अहंकार से सम्बन्धित वीडियोज़ में मैंने कुछ ज़्यादा रुचि दिखायी, क्योंकि मुझे लगा कि मेरी सारी समस्याएँ वहीं से आ रही हैं।

तो मैं आपसे ये जानना चाहता हूँ आचार्य जी कि आपने बताया कि हम अपूर्ण अहंकार हैं। तो अपूर्णता को पूर्णता के निकट लाने के लिए अहंकार चीज़ों से जुड़ता है। तो वो अगर ग़लत चीज़ों से जुड़ गया है — निम्न स्तर की चीज़ों से तमसा उसमें है, कल्पनाओं में खो जाना उसमें है, ग़लत आदतें हैं — तो उसको ऊँची चीज़ों से जोड़ने के लिए किस तरह के प्रयास किये जा सकते हैं?

और ये सतत याद कैसे रहे कि ये करना है? फिर पुरानी वृत्तियों में जाकर उसी पर न चलने लग जाएँ, ये सतत याद भी कैसे रहे कि कुछ ऊँचा है जहाँ से जुड़ना है? बस इसी पर आपका मार्गदर्शन चाहता हूँ।

आचार्य प्रशांत: अनुभव के प्रति ईमानदार रहकर। हम नहीं जानते कि किससे जुड़ना है, तो पहले प्रयास में तो सम्भावना यही है कि किसी व्यर्थ चीज़ से जुड़ जाएँगे। व्यर्थ चीज़ से जुड़ गये, पता कैसे चलेगा? जिस स्थिति से बचने के लिए जुड़े थे वो स्थिति बद से बदतर हो जाएगी। ठीक?

मैं प्यासा था, लेकिन मैं नहीं जानता ये प्यास चीज़ क्या होती है और मिटती किससे है। बस अनुभव हो रहा है कि कुछ पीड़ा है भीतर। यहाँ कंठ में कुछ अनुभव हो रहा है जो ठीक नहीं है। तो मैं क्या करता हूँ? मेरे सामने नमक का पानी पड़ा है, मैं नमक का पानी उठा कर पी लेता हूँ। मैं जानता ही नहीं कुछ, मैं क्या करूँ, मैं विवश हूँ, पी लेता हूँ। क्या अनुभव होगा? कि तात्कालिक तौर पर तो ठीक लगा, कुछ सेकंड के लिए लगा कि ठीक है पानी और थोड़ी ही देर बाद प्यास और बढ़ गयी।

ये अनुभव हो गया न, कुछ और नहीं चाहिए। इसी अनुभव के प्रति ईमानदार रहना है। हाँ, मैंने ऐसा करा और ऐसा हुआ। एक बहुत सुन्दर ऋचा है, माण्डूक्य उपनिषद् की है, जो बस यही कहती है बार-बार — जो करा है उसे याद करो, जो करा है उसे याद करो, जो करा है उसको याद करो — "कृत: स्मरं, कृत: स्मरं, कृत: स्मरं।" तुम्हें और तो शायद कोई ज्ञान भी नहीं चाहिए, जो अपने अनुभव हो चुके हैं उन्हीं के प्रति ईमानदार रह लो न? जानते नहीं क्या?

ऋषि कोई अतिरिक्त ज्ञान थोड़े ही देते हैं, वो भी शिष्य से बार-बार यही पूछते हैं। शिष्य कुछ पूछता है, ऋषि मुस्कुरा कर कहते हैं, 'जानते नहीं क्या?' जानते तुम हो, मैं बस तुम्हारे मन से जो अतिरिक्त ज्ञान है वो हटा दूँगा। जानते तो तुम हो ही, बस थोड़ा ज़्यादा जानते हो। तुम वो भी जानते हो जो नहीं जानना चाहिए। तुम उस चीज़ को भी सच मानते

हो जिसको नहीं मानना चाहिए, लेकिन जानते तो हो ही न। अनुभव के अलावा और क्या पैमाना है, क्योंकि कष्ट भी तो अनुभव मात्र है।

एक अनुभव के कारण ही अध्यात्म की यात्रा शुरू होती है। कौनसे अनुभव के कारण? कष्ट के अनुभव के कारण, किसी दिव्य अनुभव के कारण नहीं। कष्ट, साधारण कष्ट के अनुभव के कारण ही तो आदमी कहता है न, 'सच्चाई क्या है? जानने दो। क्या लिखा है इन किताबों में, ज़रा दिखाओ, क्योंकि जीवन में कष्ट बहुत है।' जब एक अनुभव आपकी आध्यात्मिक यात्रा शुरू करा सकता है, तो समझिए तो कि अनुभव ही पैमाना है।

जो ग़लत कर दिया, मत दोहराइए, क्या ग़लत किया इसकी खोज करिए। जो ग़लत है वो सही क्यों लगता है, भीतर कौन बैठा है जो ग़लत को ही सही का नाम देने को आतुर है — पूछा करिए। बस यही बता देगा कि बाहर कौनसी वस्तु के निकट जाना है, किससे दूर जाना है। क्योंकि कुछ ऐसा नहीं है अतीत में आप जिसके निकट नहीं जा चुके और कुछ ऐसा नहीं है जिसको आपने अतीत में कभी-न-कभी ठुकराया न हो।

हाँ, किसी और रंग में किसी और रूप में, पर अनुभव तो आप सब खूब कर चुके हैं। इतना ही नहीं, ये जो देह है इसमें संचित अनुभव भी बैठे हुए हैं गत शताब्दियों के। ये देह केकड़े से निकल कर आ रही है, खरगोश से निकल कर आ रही है, एक पेड़ से निकल कर आ रही है, ये मिट्टी से निकल कर आ रही है। वो सब भी जो अनन्त अनुभव हैं वो यहाँ बैठे हुए हैं। सोये हुए हैं पर यहाँ बैठे हुए हैं।

कल हम कह रहे थे न, वृत्ति पुनर्जन्म लेती है। जब बच्चा पैदा होता है तो उसकी उम्र करोड़ों साल की होती है। हम कहते हैं अभी-अभी उसने जन्म लिया। फिर हम कहते हैं एक साल का हो गया, वो एक साल का नहीं हुआ है, वो एक करोड़ एक साल का हुआ है। वो एक करोड़ हमें दिखायी नहीं देते। हम को लगता है जब गर्भ से निकलेगा तभी तो जन्मा है। वो एक करोड़ साल से चलता हुआ आ रहा है, गर्भ से अभी प्रकट हुआ है तो एक करोड़ साल के अनुभव भी उसके पास हैं, बस सोये हुए हैं।

ईमानदारी, सत्यनिष्ठा, वो चीज़ होती है जो आपको आपके ही अनुभवों के लिए सतर्क कर देती है, क्योंकि आपको पता है; आपको पता है। वास्तव में, आपको न पता हो तो मैं भी आपसे बात नहीं कर सकता, क्योंकि जो मैं बातें कर रहा हूँ उनके कोई बहुत गहरे प्रमाण नहीं होते। कुछ बातों के होते हैं। मैं कोशिश करता हूँ बातों को प्रामाणिक रखूँ। जिन भी बातों को तर्क से सिद्ध करा जा सकता है उनको सिद्ध भी करता हूँ। पर फिर भी, जैसे-जैसे बात की गहराई बढ़ती जाती है वैसे-वैसे बात अतार्किक होती जाती है, बल्कि कह लीजिए तर्कातीत होती जाती है — तर्क से परे जाती है। लेकिन फिर भी आपको बात समझ में आती है, क्यों आती है? क्योंकि आपका अनुभव साक्षी है मेरी बात का। आपके अपने अनुभव गवाह हैं कि मैं जो बोल रहा हूँ वो बात ठीक है।

हाँ, वो अनुभव आपके सो गये थे, आपको स्वयं ही याद नहीं था, स्मृति में पीछे चले गये थे। मैं बोलता हूँ तो आप कहते हैं, 'हाँ, ठीक, ठीक, ठीक।' कोई आपसे पूछेगा, 'ये बात आपको क्यों ठीक लगी?' आप बता नहीं पाएँगे। वो बात आपको इसलिए नहीं ठीक लगी कि मैंने कही है, वो बात आपको इसलिए ठीक लग रही है, क्योंकि आप जानते हैं पहले से कि वो बात ठीक है। आप अपने अनुभव के आधार पर जानते हैं कि वो बात ठीक है।

तो जब अपने ही अनुभव से पता चलना है कि क्या बात ठीक है, क्या नहीं, तो आपको किसी बाहरी गुरु की भी ज़रूरत नहीं है। क्योंकि वो भी कुछ नया नहीं बताता, वो भी बस आपको जगाता है, पुरानी बातों को उठाता है और कचरे को हटाता है।

समझ में आ रही है बात?

मुझे बताइए, आप कौनसी आज नयी भूल कर सकते हैं, जितनी भूलें हो सकती थी सब तो कर चुके। कोई नयी भूल करना सम्भव है? तो कोई आपको क्या ज्ञान दे, कोई आपको क्या उपदेश देगा, बोलिए। हाँ, जिन्हें हम नयी भूल कहते हैं वो पुरानी ही भूलों के नये संस्करण होते हैं, पुरानी ही भूलों के। पहले एक चीज़ पर लालच आया था, अब किसी और चीज़ पर लालच आ गया। पहले एक चीज़ को लेकर भ्रमित थे, अब किसी और चीज़ को लेकर भ्रमित हो गये। भ्रम तो वही है न, भीतरी अज्ञान तो वही है न। पहले यहाँ से डरते थे, अब वहाँ से डरते हो; अरे! डरने की वृत्ति तो वही पुरानी है न।

तो क्या है जो आपको नहीं पता और जो नहीं पता प्रयोग करके उसका अनुभव ले लीजिए। हाँ, एक बार अनुभव ले लें तो भूलिए मत। कैसे न भूलें फिर? उसके लिए अपने से और अपनी भलाई से थोड़ा प्यार होना चाहिए। वो प्यार अगर नहीं है तो कोई क्या जगाएगा किसी में!

अहंकार कहने को तो आत्म केन्द्रित होता है, स्वार्थी, *सेल्फिश*। लेकिन असली बात ये है कि वह स्वयं से बहुत घृणा करता है। वो इतनी घृणा करता है कि स्वयं को ठीक होने ही नहीं देता। वो कहने को तो सबकुछ अपने लिए करता है, पर वो वास्तव में अपने लिए कुछ भी नहीं करता। अगर हम वाक़ई स्वार्थी होते, तो हमने अपनेआप को कम-से-कम एक चीज़ दी होती तोहफ़े में। क्या? थोड़ा ज्ञान, थोड़ी समझ।

हम प्रेम करते कहाँ है अपनेआप से? प्रेमी को तो बहुत अच्छा, सुन्दर, ऊँचा उपहार दिया जाता है न? आपने अपनेआप को कभी उपहार दिया? चूँकि हम अपनेआप से प्रेम नहीं करते इसीलिए हम अपने अनुभवों से कुछ सीखते नहीं। हम एक ही गड्ढे में सौ बार गिरते हैं। जो आदमी अपनेआप से प्यार करेगा वो कहेगा गड्ढे में गिरने का अनुभव हो तो गया एक बार, अब उसी गड्ढे में दोबारा क्यों गिरूँ? मेरे लिए अच्छा नहीं है, मैं ख़ुद से प्यार करता हूँ मैं

उस गड्ढे में दोबारा नहीं गिरूँगा।

आप पूछिए न आप एक ही ग़लती रूप बदल-बदलकर सौ तरीक़ों से क्यों दोहराते हो? क्योंकि आपको स्वयं से प्रेम नहीं है। अब इस परिभाषा के अनुसार ऋषि जन घोर स्वार्थी थे। वो थे जिन्हें ‘स्व’ पता था और ‘स्व’ के लिए क्या अच्छा है ये पता था, इसको कहते हैं 'स्वार्थ'। मैं जानूँ मेरे लिए क्या ठीक है। और अक्सर जो मुझे ठीक होता है वो मुझे प्रिय नहीं होता।

देखिए, अहंकार अपना ही कितना बड़ा दुश्मन है! जो भी उसे अच्छा लगता है, उसे वही अच्छा लगता है जो उसके लिए घातक है और जो अच्छा उसके लिए है उससे उसको बड़ी चिढ़ है।

कोई यहाँ बैठा है, मैं फिर पूछ रहा हूँ, बड़ा महत्वपूर्ण सवाल है, कोई यहाँ बैठा है जो कोई नयी ग़लती करता हो? कोई यहाँ बैठा है जो अपनी हस्ती की सच्चाई नहीं जानता? हाँ, आप उसे छुपाते हों, ढोंग करते हों तो अलग बात है; पर दिल-ही-दिल में सब जानते हैं न कि हमारी हालत क्या है, हम कैसे हैं? नहीं जानते? सुधरते क्यों नहीं! और कोई क्या कर लेगा अगर आप चाहते नहीं सुधरना तो। आप अपने मददगार नहीं है, कोई दूसरा कैसे मदद करेगा आपकी? बोलिए।

और कोई आपकी मदद करना भी चाहे न, तो एक सीमा के बाद ऊब जाता है, चूक जाता है। कहता है, 'इस इंसान को सौ बार समझाओ, सौ बार रास्ता दिखाओ, सुधरना इसे है नहीं तो बेहतर है कि मैं अपनी ऊर्जा किसी और पर लगाऊँ।' आप जब बेहतर होने की उत्कंठा दिखाते हैं तो फिर बाहरी शक्तियाँ भी कुछ आपको सहयोग देती हैं।

जैसे कोई बच्चा सड़क पर खड़ा हो, चिल्ला रहा हो कि मुझे घर जाना है, घर जाना है। तो दो-चार लोग आ जाएँगे, पूछेंगे कहाँ रहते हो। वो पता नहीं बता पा रहा, तो कहेंगे, 'अच्छा थोड़े इशारे बताओ, कुछ और बताओ।' उसे सहयोग मिलने की सम्भावना बढ़ेगी। पर बच्चा ख़ुद घर से भागा हुआ हो, इधर-उधर जाकर के जुआ खेलता हो, दारू पीता हो, ठेले के नीचे छुप जाता हो कोई ढूँढने आये तो; तो कौन उसको घर पहुँचा सकता है, बताइए?

आप वो नीयत तो पैदा करिए। सैकड़ों ग्रन्थों को इतनी बार पढ़ने और मनन करने के बाद मैं जिस एक शब्द पर पहुँचता हूँ वो है ‘इच्छा’। उससे बड़ा कुछ नहीं। उसको कभी नीयत कह देता हूँ कभी इरादा कह देता हूँ, कभी सत्यनिष्ठा कभी ईमानदारी। 'इच्छा'! आप चाहते भी है क्या? जब कोई कहता है, 'मिलता नहीं, मिलता नहीं' या 'छूटता नहीं,' तो ले-देकर के बस यही सवाल बचता है— चाहते भी हो? और चाहते होते तो मिल गया होता। या चाहते होते तो छूट गया होता।

जब इरादा ही नहीं है तो काम कैसे होगा? कैसे नहीं पता चलेगा आपको कि किसके पास बैठना है? चलिए नहीं पता

था, एक बार बैठ लिए। उसका क्या प्रभाव हुआ आप पर आपको नहीं पता? आपको नहीं पता तो किसको पता होगा? मैं कह रहा हूँ, अनुभव से बड़ा कौन मित्र है आपका? आपको क्या अनुभव हुआ किसी व्यक्ति की संगति में, वो आप जानते हैं न? सही हुआ तो बार-बार जाइए; नहीं हुआ तो एक बार भी मत जाइए। इतना सरल है खेल, इतना सरल है।

कोई दवाई ले रहे हैं, लाभ हो रहा है तो मैं कह रहा हूँ लेते जाइए, लेते जाइए। लाभ नहीं हो रहा तो काहे चिपके हुए हैं, अभी त्याग दीजिए। किन्हीं स्थितियों में हैं, किसी माहौल में हैं, वहाँ है शान्ति? है तो जमकर बैठ जाइए। नहीं है शान्ति तो एक पल भी क्यों रुके हैं? बात इतनी सरल है।

लेकिन हम कहते हैं, 'नहीं, देखिए, ज़िन्दगी इतनी सीधी नहीं होती, ये आचार्य जी अति सरलीकरण कर रहे हैं। ज़िन्दगी में देखिए, टेढ़ी-मेढ़ी जटिलताएँ होती हैं जो हम संसारी लोग ही जानते हैं। इनको क्या पता कि पानी आता सुबह बस छः से आठ, वो तो हम संसारी लोग ही जानते हैं न — घोर जटिलता है। पानी इतने से इतने बजे ही आता है और उसी दरमियान टून्नू को स्कूल भी छोड़कर आना है। अब इसका समाधान किसी शास्त्र में नहीं है। पानी आता सुबह छः से आठ और नुन्नु की क्लास भी लगवानी है वहाँ। और नुन्नू के जब नम्बर कम आते हैं तो पत्नी को बड़ा बुरा लगता है इसलिए नहीं कि उन्हें शिक्षा से बड़ा प्रेम है, इसलिए क्योंकि बगल वालों की जो नुन्नी है वो क्लास की टॉपर (अव्वल छात्रा) है। तो नाक कट जाती है कि ये देखो, पड़ोसन आगे निकल गयी। आचार्य जी, ये सब आप नहीं समझेंगे। अध्यात्म तो ऐसे देखिए थोड़ा बच्चों वाली बात है, बड़ों वाली बातें तो हम जानते हैं गृहस्थ लोग। पानी आता सुबह छः से आठ!'

अब इसका मेरे पास कोई उत्तर होता नहीं है कि पानी मतलब क्या! मुझे तो इस तरह की चीज़ें होती हैं तो मैं कहता हूँ मतलब कहीं और से ले आ लो, ख़रीद लो, या मत नहाओ। सीधा चलने में दिक्क़त क्या है? जो सही है वो सही है; तो जो सही है वो करने में दिक्क़त क्या है? मौन! कोई उत्तर नहीं! और यहीं पर गाड़ी अटक जाती हैं फिर। यहाँ हमारे आपके रास्ते अलग हो जाते हैं। आपको मजबूरियाँ गिनानी हैं, हमें सीधी राह चलना है।

और कुछ मैं इनको सिखा पाया या नहीं लेकिन संस्था में ये जितने हैं जवान लोग, एक मूल्य मैंने इनमें स्थापित किया है— कभी मजबूरी का रोना लेकर मत आना मेरे सामने। कभी मत कहना कि कुछ बुरा हो गया है। बेबसी जैसी कोई चीज़ नहीं। रास्ता निकालो।

हाँ, उस रास्ते में कठिनाई हो सकती है, बिलकुल हो सकती है। हो सकता उस रास्ते पर हम बहुत गति से आगे न बढ़ पाएँ, हो सकता है। पर ये लेकर रोते हुए मत आ जाना कि आचार्य जी फ़लाना काम नहीं हो सकता, ये मजबूरी है। बिलकुल नहीं। 'तबीयत ठीक नहीं है, हम काम नहीं कर पा रहे, ऐसा हमारे यहाँ होता ही नहीं। हाँ, मुझे पता चल

जाए कि किसी की तबियत ठीक नहीं है, मैं कुछ रियायत कर दूँ, अलग बात है। नहीं तो ये सब मुझे सुनने को नहीं मिलता कि फ़लानी समस्या थी इसलिए फ़लाना काम नहीं हुआ।

मतलब क्या है? जो होना है वो होना है, जो सही है वो सही है। प्रोत्साहित ही मत करिए अपनेआप को जब लगे कि देखो, बात तो ठीक है लेकिन...? ये 'लेकिन, किन्तु, परन्तु' जीवन से उखाड़ फेंकिए।

बुख़ार बहुत चढ़ा हुआ है, ठीक है आज तुम कम काम करोगे, लेकिन करोगे। कोविड हो गया है, कोई बात नहीं, जितना कर सकते हो अभी भी करो। घर जाना है? जाओ घर जाओ, हफ़्तेभर के लिए घर जाओ, घर से काम करोगे। काम नहीं रुकेगा। जो सही है वो सही है। परिस्थितियाँ कुछ भी रहें, जो सही है उसको तो होना है न, तो घर से काम करोगे। गोआ घूमने जाना है, हाँ जाओ। दस दिन को जा रहे हो, बिलकुल जाओ, वहाँ से काम करते रहोगे। बीच (तट) पर बैठे हो, काम नहीं रुकना चाहिए। और रुकता भी नहीं है।

अब ये एक मूल्य बन गया है सबमें। प्लेटफार्म पर बैठे हैं, ट्रेन का इंतज़ार कर रहे हैं, काम चल रहा है। पूरी-की-पूरी संस्था, लगभग पूरी, उठ करके यहाँ पर आ गयी है हफ़्तेभर के लिए। आपको क्या लगता है हमारा कोई काम रुका है? गति धीमी हुई है निसंदेह, पर काम रुकने नहीं देते। दोगुनी मेहनत करते हैं, यहाँ का काम भी करते हैं और जो नियमित काम है वो भी करते हैं।

हाँ, कम हो पाता है बिलकुल, क्योंकि हाड़-माँस का शरीर है। दिन में चौबीस ही घंटे होते हैं। समय यहाँ ज़्यादा दे देते हैं, तो उधर काम का नुक़सान हो रहा है। लेकिन फिर भी कर रहे हैं, जितना हो सकता है कर रहे हैं। ये रवैया जीवन के प्रति लाइए।

जो सही है वो सही है। ताक में मत रहिए कि बस मौक़ा मिल जाए सही से मुँह चुराने का। हम बिलकुल इसी ताक में रहते हैं, किसी तरीक़े से कोई बहाना मिल जाए और हम कहते हैं, 'देखिए, ये मजबूरी है इसलिए...।' मजबूरियाँ गिनाना चाहेंगे तो हज़ार मिलेंगी।

मुझे नहीं मालूम मेरी बात आपके प्रश्न से कितनी सम्बन्धित है, लेकिन ये बात कही जानी आवश्यक है, इसलिए कह रहा हूँ।

ग़ुलामी चुभ ही नहीं रही, तो आज़ादी लेकर क्या करोगे?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, आपसे सीखा है कि जीवन में मौज और मुक्तता होनी चाहिए। बेख़ौफ़, निडर जीना चाहिए, न कि किसी बाहरी व्यवस्था में बँधकर। पर अगर मैं बाहरी व्यवस्थाओं का ख़याल नहीं करता तो आलसी हो जाता हूँ और फिर तनाव आता है। और अगर मैं आपकी अत्यधिक मेहनती जीवनशैली की नकल करने की कोशिश करता हूँ तो शरीर जवाब देने लगता है। कृपया समझाएँ कि ऐसा क्यों हो रहा है। क्या ये सबके साथ होता है?

आचार्य प्रशांत: ये जो दो हिस्से हैं तुम्हारी अपनी स्थिति के वर्णन के, वो दोनों ही हिस्से थोड़े गोलमोल हैं। कह रहे हो कि अगर बाहरी व्यवस्थाओं की उपेक्षा करते हो तो आलसी हो जाते हो और फिर तनाव आता है। बाहरी व्यवस्था सिर्फ़ बाहरी थोड़े ही है। अगर व्यवस्था की उपेक्षा करने के पीछे तुम्हारी नीयत ये है कि तुम बँधना नहीं चाहते किसी ऐसी चीज़ में जो निजी नहीं है, जो तुम्हारी आत्मिक नहीं है, तो जो चीज़ आत्मिक नहीं है वो सिर्फ़ बाहर की व्यवस्था में थोड़े ही बैठी है, वो भीतर भी तो प्रवेश कर गयी है न। जिसको तुम भीतरी बोलते हो, वो भी तो बाहरी है।

तुम्हारी नीयत ये है कहने की कि देखिए आचार्य जी, बेख़ौफ़, निडर जीना चाहिए, तो बाहर की जो व्यवस्था होती है मैं उसकी उपेक्षा, अवहेलना कर देता हूँ। बाहरी नियमों को तोड़ देता हूँ। पर जब मैं बाहरी नियमों को तोड़ देता हूँ तो आलसी हो जाता हूँ, तनाव आता है।

माने कुछ ऐसा सा होता होगा कि बाहरी नियम है कि इतने बजे ये काम कर देना है या इतने बजे इस जगह पहुँच जाना है या दिनभर में इतना काम तो करना ही करना है, और तुम बाहरी नियमों को तोड़ने के नाम पर काम करना बन्द कर देते होगे, जहाँ पहुँचना है वहाँ से देर से पहुँचते होगे। तो आलस आया, आलस पर चले, और फिर जब काम नहीं करा, देर से पहुँचे, तो फिर गाली खायी, सुनना पड़ा दूसरों से। तनाव आया फिर, चोट लगी। कुछ ऐसा होता होगा।

लेकिन बाबा, बाहर वाला जो तुम्हारा मालिक बन रहा है, तुमने उसकी तो अपेक्षा कर दी और जो भीतर बैठा हुआ है आलस बनकर, वो भी तो मालिक ही बन रहा है तुम्हारा, उसकी उपेक्षा तो नहीं कर पाये न तुम। ये तो तुमने बड़ा भ्रम पाल रखा है कि जो बाहर से तुम पर शासन करे या आदेश चलाये, सिर्फ़ वही बाहरी है। अपनी आंतरिक व्यवस्था को तो तुमने बिल्कुल ही अपना मान लिया। तुमने कह दिया न आंतरिक है, आंतरिक को आत्मिक बना मारा तुमने, जबकि वो आंतरिक भर है, आत्मिक नहीं है।

अध्यात्म का एक बुनियादी सूत्र चूक गये तुम — बाहरी और आंतरिक, दोनों में से आत्मिक कोई नहीं होता। और जो बाहरी ही है, उससे ज़्यादा बाहरी और ज़्यादा ख़तरनाक वो होता है जो अन्दरूनी लगता है।

समझना बात को।

कोई बाहर से तुम पर शासन करे, हुकुम चलाये, आसान होता है पकड़ पाना कि मेरे साथ कुछ ग़लत हो रहा है क्योंकि बहुत स्पष्ट है कि सामने कोई खड़ा हुआ है और वो तुम पर चढ़ बैठने की कोशिश कर रहा है। इंद्रियाँ बाहर की ओर ही देखती हैं और मन बहुत समझदार होता नहीं, तो जहाँ मन ने देखा कि बाहर से कोई आकर तुम पर गुर्रा रहा है, तुम समझ जाते हो कि ग़लत हो रहा है मेरे साथ, ग़लत हो रहा है। इतना तो पशु भी समझ जाते हैं न?

जानवर जैसे ही होते हैं हम बहुत मामलों में। लेकिन जो आंतरिक व्यवस्था बैठी हुई है, चाहे वो जो हमें बाहर से कंडिशनिंग , संस्कार, मिल गये हैं, वो हों, या फिर जो हमारी प्रकृतिगत, जन्मगत वृत्तियाँ हैं, वो हों, इनको तो हम नाम दे देते हैं 'मैं' का। हम कह देते हैं, 'ये तो जी हमारी अपनी हैं।'

नतीजा ये निकलता है कि जब मैं सिखाता हूँ कि गुलामी के विरुद्ध विद्रोह करो तो लोग बड़ा आधा-अधूरा और आत्मघातक विद्रोह कर मारते हैं। वो क्या करते हैं कि जितना भी बाहरी अनुशासन होता है, वो उसको तोड़ने लग जाते हैं।

क्यों?

'आचार्य जी ने कहा है कि बेख़ौफ़, निर्भय जीना है, तो जितनी बाहरी व्यवस्था है उसको नहीं मानना है। और जो भीतरी व्यवस्था है, जो भीतरी अराजकता है, जो भीतरी आलस है, उसको तो जी मानना है, बिल्कुल मानना है। बिल्कुल मानना है क्योंकि वो तो जी मैं हूँ।'

ये जो भीतर वाला है न जिसको 'मैं' बोलते हो, ये बाहरी से ज़्यादा बाहरी है। और इससे ज़्यादा घातक कोई नहीं है तुम्हारे लिए। इसीलिए बार-बार बोलता हूँ कि बाहर से तो बाद में बचना, पहले तुम ख़ुद से बचो, अपनेआप से बचो। जो तुम्हारे भीतर बैठा है, उससे बचो। वही दुश्मन है तुम्हारा। वही ज़हर है तुम्हारा। वो जो तुम्हारे भीतर बैठा है तुम्हारी बुद्धि बनकर, जो तुम्हारे भीतर बैठा है 'मैं' बनकर, वो जो भीतर बैठा है तुम्हारा सलाहकार और शुभचिंतक बनकर, वो तुम्हारा सबसे बड़ा बैरी है।

पर हम उसको बैरी कहाँ मानते हैं, हम उसको कहते हैं, 'ये तो मैं हूँ, ये तो मैं हूँ।' और ठीक उस तरीक़े से जैसे बाहर कोई हम पर गुर्राये तो हमारे लिए आसान होता है ये कह देना कि इसके तो मुझे ख़िलाफ़ विद्रोह करना है, उसी

तरीक़े से बाहर से अगर हम पर हमारा शुभचिंतक भी गुर्राये तो हम उसके ख़िलाफ़ भी विद्रोह कर ही देंगे क्योंकि हम बाहर की ओर ही अनिवार्यतः देखने वाले पशु हैं। भीतर की ओर देखने वाली आँखें नहीं हैं हमारे पास। बाहर से कोई हमें प्यार कर दे, हमें लगता है ये तो मिल गया जीवनसाथी। बाहर से कोई गुर्रा दे तो...

हम बाहर ही देखते रह जाते हैं, वार हम पर पीछे से हो जाता है, वार हम पर अन्दर से हो जाता है। पीछे से भी अगर आपके सीने में कोई खंजर घोपे तो आप बच जाओगे न? पर अगर आपके सीने के अन्दर से कोई आपके सीने में खंजर घोपे, तो कैसे बचोगे? बताना ज़रा, ज़िन्दगी में बड़े-से-बड़े ज़ख़्म किसने दिये हैं — उन्होंने जो तुम्हारे बाहर थे या उन्होंने जो तुम्हारे दिल के भीतर ही बैठे थे?

बड़े-से-बड़े ज़ख़्म तो तुम्हें वो ही दे पाते हैं जो सीधे दिल के अन्दर बैठ जाते हैं, और वो दिल के अन्दर से खंजर मारते हैं। उनसे बचोगे कैसे? आँखें तो बाहर देख रही हैं और भीतर को देखने वाली आँख जीवन में कभी खुली ही नहीं, क्योंकि उसको खोलने में अभ्यास लगता है, उसको खोलने में ज़रा दम लगता है, अनुशासन लगता है। भीतर वाली आँख खोली नहीं, तो जितने हमारे दिलदार होते हैं वही दिल पर वार करते हैं। फिर बताते हुए भी लजाते हो — कौन कर गया वार, वो जो दिल के भीतर था दिलदार (व्यंग्य करते हुए)। कैसे बताओगे किसी को! ज़ख़्म ऐसा है कि दिखाया भी नहीं जाता।

ये अन्दर वाले से बचो!

मैं फ़िल्मी विद्रोह नहीं सिखाता, भाई। मैं तुमको रजनीकांत थोड़े ही बना रहा हूँ कि बाहर चले गये और जाकर के पचास-साठ लोगों को एकसाथ अकेले ही पीट आये और बोले, 'ये देखो, मैं हूँ आध्यात्मिक आदमी, संसार से नहीं डरता। जगतजीत हूँ मैं!' स्वयं को जीतना होता है, भीतर जाना होता है।

एक से एक सूरमा होते हैं। वो ऐसे भी होते हैं कि आचार्य जी, आपने ही तो सिखाया था न कि बाहर किसी की नहीं सुननी है। तो अब हम आपकी नहीं सुनते हैं। आपकी ही शिक्षाओं पर चल रहे हैं। आपने ही कहा था कि किसी बाहरी अनुशासन को स्वीकार मत करना। तो देखिए, सबसे पहले तो हम आपको अस्वीकार करते हैं।' तुम्हारे भीतर कौन बैठा है जो मुझे अस्वीकार कर रहा है? एक पल को उसके ख़िलाफ़ भी तुमने विद्रोह कर लिया होता। पर नहीं, ये सब ख़ूब होता है।

भीतर वाले दुश्मन से हम लड़ना नहीं चाहते क्योंकि उसकी शक्ल बिल्कुल हमारी शक्ल जैसी है, उसका नाम हमारा ही नाम है, उसकी आँखें हमारी आँखें हैं, उसका शरीर हमारा शरीर है, उसके रिश्ते हमारे रिश्ते हैं। अरे! वो तो बिल्कुल हमारे जैसा है। वो तो हम ही हैं। भीतर वाले से कैसे लड़ोगे? उसके लिए तो प्रकृति ने हमें तैयार ही नहीं

किया है। उसके लिए तो कोई और हमें तैयार करता है। पता नहीं क्या नाम है उसका!

आ रही है बात समझ में?

आगे कह रहे हैं, 'आचार्य जी, फिर मैं आपकी मेहनती जीवनशैली की नकल करने की कोशिश करता हूँ तो मेरा तो शरीर जवाब देने लगता है।' हैं भई! तुम अगर मेरी नकल कर रहे हो तो इस बात की भी तो नकल करो न कि मैं किसी की नकल नहीं कर रहा हूँ। अगर तुम वही करना चाहते हो जो मैं कर रहा हूँ, तो तुम ये भी तो देखो न कि मैं वो नहीं कर रहा हूँ जो कोई और कर रहा है। मैं किसकी नकल कर रहा हूँ?

स्वागत है तुम्हारा, तुम मेरे जैसा हो जाना चाहते हो। तुम्हें कुछ सौन्दर्य दिखायी दे रहा है, तुम्हें कुछ प्रेरक दिखायी दे रहा है, तुम्हें कुछ ऊँचा दिखायी दे रहा है, अच्छी बात है, स्वागत है। पर फिर ठीक से तो देखो कि तुम्हें जिसके जैसा होना है, वो क्या है, कौन है, कहाँ से अपनी ऊर्जा पाता है। मैं किसकी नकल उतार रहा हूँ? मेरे सामने कौन खड़ा है आदर्श बनकर?

मैं तो जीवन को देख रहा हूँ भाई। मेरी मेहनत इसलिए थोड़े ही आ रही है कि मैंने किसी और की मेहनत नापी हुई है और कह रहा हूँ, 'ये उतनी मेहनत करता है तो उतनी ही फिर मैं भी करूँगा।' मैंने किसी और को थोड़े ही अपना मापदंड बना रखा है। मुझे तो पता भी नहीं है कि मैं कितनी मेहनत कर रहा हूँ। तुमने लिख दिया है कि आचार्य जी, आपकी अत्यधिक मेहनती जीवनशैली की नकल उतारने की कोशिश करता हूँ। तुम सुना रहे हो ये ख़बर तो सुन ली, नहीं तो अपने पास कहाँ पर समय है कि नापें कि कितनी मेहनत कर रहे हैं और कितनी नहीं कर रहे हैं।

हाँ, शरीर जब चरमराने लगता है तो पता चल जाता है कि सोने का समय आ गया भाई। पेट जब कुलबुलाने लग जाता है तो समझ आ जाता है खाने का समय आ गया भाई। और सोते-सोते यकायक ख़याल आ जाता है कि बहुत काम बाक़ी है, तो उठ जाते हैं। जैसे ही हमें ख़याल आता है कि बहुत काम बाक़ी है, हमारा ब्रह्म मुहूर्त आ जाता है भाई। ब्रह्म का ही काम करते हैं, ब्रह्म ने ही याद दिला दिया कि उठो, काम करना है। वही तो ब्रह्ममुहूर्त है, और क्या? घड़ी देखकर थोड़े ही आएगा ब्रह्ममुहूर्त। जब ब्रह्म जीवन में उतरा, वही ब्रह्म का मुहूर्त।

तो हम तो ऐसे चलते हैं। तुम हमें देख-देखकर चल रहे हो!

ये ऐसी ही बात है कि दो रस्सियाँ पैरलल (समानांतर) बँधी हुई हों, और दो रस्सियों पर दो लोग हैं जो चल रहे हैं। एक ख़ुद को देखकर चल रहा है और दूसरा दूसरे को देखकर चल रहा है। जो ख़ुद को देखकर चल रहा है, वो तो रस्सी पर चलकर पार भी हो जाएगा, जो दूसरे को देखकर चल रहा है, वो कहाँ से पार पाएगा?

मुझसे अगर कुछ सीखना चाहते हो तो यही सीखो कि जीवन में बड़े विवेक से और बड़ी निष्कामना से सही लक्ष्य बनाना है और फिर उसमें आकंठ डूब जाना है। मेहनत अपने-आप हो जाती है, गिननी नहीं पड़ती।

ठीक वैसे ही जैसे बैडमिंटन खेलो तो स्कोर गिनते हो, कैलोरी तो नहीं न? कैलोरी अपनेआप घट जाती है। इधर स्कोर बढ़ रहा है, उधर कैलोरी घट रही है। मुझे ये बड़ा पसन्द है। पर जिम में बड़ी गड़बड़ होती है, वो सीधे कैलोरी दिखाते हैं। वो चीज़ मुझे रुचती ही नहीं। कैलोरी गिनना, इसमें क्या मज़ा है? बैडमिंटन बेहतर है, उसमें कुछ और गिन रहे हो और पीछे-पीछे जो होना है वो चुपचाप हो रहा है। वैसा ही जीवन होना चाहिए। तुम वो करो जो आवश्यक है, उससे तुम्हारा जो लाभ होना है वो पीछे-पीछे चुपचाप हो जाएगा, तुम्हें वो लाभ गिनना नहीं पड़ेगा। मेहनत अपनेआप हो जाएगी।

जिम में तुम जाते हो ये लक्ष्य बनाकर कि मेहनत करनी है। बैडमिंटन कोर्ट पर ये लक्ष्य बनाकर नहीं जाते न कि मेहनत करनी है, अपनेआप हो जाती है मेहनत। सावधानी से सुनना, सिर्फ़ उदाहरण है। इस उदाहरण को बहुत दूर तक खींचोगे तो फिर कह दोगे कि नहीं, ये-वो; इधर-उधर की बातें। जिधर को इशारा कर रहा हूँ, बस उतना समझो।

जब तुम्हारे सामने वो मौजूद होता है जिसको तुमने अपने विवेक का पूरा इस्तेमाल करके जान लिया कि आवश्यक है, अब तुम्हें मेहनत करनी नहीं पड़ेगी, अब तुम्हारी अपनी व्यवस्था मजबूर हो जाएगी मेहनत करने के लिए। तुम अगर चाहोगे भी कि नहीं करूँ मेहनत, तो भी तुम्हें बाध्य होकर करनी ही पड़ेगी।

अब इसमें तुम्हारे पास चुनाव नहीं रहा, निर्विकल्प हो गये तुम। सच दिख गया, नकारोगे कैसे उसको!

तो देखो कि तुम्हारे जीवन का यथार्थ क्या है। देखो कि क्या हो सकते हो और क्या हुए पड़े हो। देखो कहाँ बँधे हुए हो। पूछो अपनेआप से कि अगर तमाम तरह के स्वनिर्धारित, स्वप्रमाणित बन्धन न हों, तो क्या वैसे ही जीना चाहोगे जैसे आज जी रहे हो? चौंक जाओगे, हतप्रभ हो जाओगे बिल्कुल जब तुम्हें पता चलेगा कि अगर तुमने अपने ऊपर जो तमाम बन्धन लगा रखे हैं, वो न हों तो तुम एक-प्रतिशत भी वैसा न जियो जैसा अभी जी रहे हो।

फिर तुम्हें दया आएगी अपने ऊपर। तुम कहोगे कि कितने कष्ट में जी रहा हूँ मैं। जीवन का एक-एक पल मेरा बिल्कुल वैसा नहीं है जैसा होता यदि मैं मुक्त होता। मतलब एक-एक पल में पीड़ा है, एक-एक पल में दासता है। गुलामी की साँस लेकर जीना मौत से बदतर है। उसके बाद मेहनत अपनेआप कर लोगे। जब कहोगे कि बुरे-से-बुरा क्या है, सब छिन जाएगा, शरीर भी; मौत आ जाएगी। मौत से बदतर जो हो सकता है वो तो फिलहाल ही हो रहा है। तो फिर तो मैं दूसरा ही विकल्प चुनूँगा, भले ही उस विकल्प में मौत मिलती हो। मेरी जो अभी हालत है उससे तो मौत

भली!

और याद रखो, अध्यात्म की ओर बढ़ नहीं सकते जब तक तुममें अपनी वर्तमान हालत के ख़िलाफ़ इतना ज़बरदस्त आक्रोश न आ जाए। जो लोग अपने हालात से सन्तुष्ट हैं और खुश हैं, अध्यात्म नहीं है भाई उनके लिए, एकदम नहीं है। भीतर एक गहरी विकलता होनी चाहिए, बड़ी ज़बरदस्त बेचैनी। छटपटाहट होनी चाहिए जो सोने न दे, जीने न दे, जो तुमको उतावला करके रखे, जो तुम्हें एक गहरे आंतरिक तनाव में रखे, तब आध्यात्मिक यात्रा की शुरुआत भी होती है।

और जब मैं ये कहता हूँ, तो यही सुनकर लोग सबसे पहले मुझसे कटते हैं, दूर भागते हैं। कहते हैं,' ये लो! हमें तो आज तक बताया गया था कि अध्यात्म का मतलब होता है शान्ति, और सुकून, और चैन।' हरि ओम! बच्चा, आँखें बंद करो और कल्पना करो कि पूर्णमासी का चाँद है, और शांत, शांत, शांत हो जाओ — हमें तो ये बताया गया था। और हम वही सब विशेष अनुभव पाने के लिए अध्यात्म में आते हैं कि थोड़ा दो-चार पल के लिए हमें भी लगे कि हम पर चाँदनी की ज्योत्सना बरस रही है। और आ हा हा हा! शान्त सरोवर है जिसमें चन्द्रकला प्रतिबिम्बित हो रही है। पाँच मिनट के लिए ही सही, शान्ति तो मिल गयी।'

'हम पाँच मिनट की शान्ति के लिए अध्यात्म चाहते हैं और आचार्य जी आपके पास आते हैं तो आप कहते हो कि अध्यात्म के लिए सर्वप्रथम तुम्हारे भीतर बेचैनी होनी चाहिए, तड़प होनी चाहिए, छटपटाहट होनी चाहिए। हम तो वैसे ही बेचैन हैं, आप और चाहते हो बेचैन हो जाएँ!'

हाँ, मैं चाहता हूँ तुम और बेचैन हो जाओ। तुम धुधुआ रहे हो, तुम सिसक रहे हो, मैं चाहता हूँ तुम खुलकर रोओ। हमारे कबीर साहब बोल गये हैं — जब पहली बार मैंने ये पढ़ा था दोहा उनका, तो बिल्कुल थम गया था मन एकदम। बोलते हैं कि जो ओदी लकड़ी होती है, ओदी लकड़ी समझते हो? गीली।

ओदी बिरहीन लाकड़ी, सिसके औ धुधवाये। छुट पड़े या विरह से, जो सगरी जली जाये।।

~ कबीर साहब

एकदम मैं थम गया था। गीली लकड़ी की तरह है हमारा जीवन, सिसक-सिसककर धुआँ देता है। थोड़ा-थोड़ा जल रहा है। और इसीलिए बहुत लम्बा हम चल लेते हैं इस हालत में। आगे कहते हैं कि ये हालत ख़त्म हो जाए — जिस हालत में हो तुम गीली लकड़ी की तरह, उस हालत से तो कहीं बेहतर है कि तुम पूरे ही जल जाओ।

यही मेरी शिक्षा है, सलाह है: तुम पूरे ही जल जाओ। क्या गीली लकड़ी की तरह धुआँ दिये ही जा रहे हो, दिये ही जा

रहे हो? क्या छुप-छुपकर आँसू बहाते हो? क्या भीतर-भीतर रोते हो? आँखें तो अब पथरा गयी हैं, उनमें तो अब नमी भी नहीं आती। भीतर-ही-भीतर आँसू बहाते हो, इससे अच्छा ये है कि तुम टूट जाओ, ढह जाओ, खुलकर रो लो, चिल्लाकर रो लो, आर्तनाद करो।

पर नहीं, प्रसन्नता का, सन्तुष्टि का, झूठा नकाब पहनकर घूमते रहते हो। अध्यात्म की ओर भी आ जाते हो झूठी शान्ति और झूठी मुस्कान टपकाते हुए।

बहुत विचित्र लगेगी मेरी बात लोगों को, लेकिन फिर कह रहा हूँ साफ़-साफ़, अशान्ति की अभिस्वीकृति, एकनॉलेजमेंट चाहिए; बेचैनी चाहिए, आकुलता चाहिए। वो नहीं चाहिए जो चैन से आठ-आठ, दस-दस घंटे टाँग फैलाकर सोते हैं। छी! बल्कि थू! तुम्हें नींद आ कैसे जाती है? तुम कह कैसे देते हो कि बीमार हूँ? तुम मर क्यों नहीं जाते?

जब तक तुम नहीं निश्चित करोगे, नहीं संकल्प करोगे कि जीवन में कुछ है जो मरने से बदतर है और इसीलिए जीवन में कुछ होना चाहिए जो मरने से बेहतर हो, तब तक तुम्हारा पूरा जीवन मृत्युधर्मा ही रहेगा।

ये झूठा जीवन है। ये मौत है। हम नहीं जी रहे, हम मरे हुए हैं; लाशें चल रही हैं। आती-जाती साँसें हमें भ्रम में रखे हुए हैं कि हम जीवित हैं। जीता बस वो है जिसके पास कुछ ऐसा है जिसकी ख़ातिर मरा जा सकता हो। जो मरने के लिए ठीक इसी पल तैयार नहीं, उसका जीवन — मैं कह रहा हूँ — मौत से बदतर है।

और इसका अर्थ ये नहीं है कि तुम अपनी जान को ले जाकर कुएँ में डाल दो; कि जाकर के व्यर्थ ही कहीं गोलियाँ चला दो और गोलियाँ खा लो। पहली शर्त है तुम पहचानो कि तुम फँसे कहाँ हो, बँधे कहाँ हो, और फिर कहो कि यहाँ जहाँ फँसा हूँ, बँधा हूँ, इससे मुक्ति ही वो लक्ष्य है जिसके लिए प्राण भी त्यागे जा सकते हैं। मात्र उस लक्ष्य के लिए त्यागे जा सकते हैं प्राण; अन्यथा प्राण इतने सस्ते नहीं कि कहीं भी जाकर के फेंक आयें। और जीने का कोई कायदा नहीं! और जीने में कोई खूबसूरती नहीं! जीवन में खूबसूरती का सिर्फ़ यही तरीक़ा है।

मौत तुम्हें डरा-डराकर मारे रहती है। मौत तुम्हें डराती है कि मर जाओगे, और इसलिए तुम मरा हुआ ही जीवन जिये जाते हो। जीता वो है जो मौत से कहता है, 'मर जाऊँगा क्या, तेरे ख़ौफ़ में अगर जी रहा हूँ तो मैं मरा हुआ हूँ। पहली चीज़ तो ये है कि तेरा ख़ौफ़ नहीं चाहिए।'

मौत कहेगी — ख़ौफ़ तो मेरा रहेगा क्योंकि तू जीव है, शरीर लेकर आया है। जो शरीर लेकर आया है वो मौत से डरेगा। और तब तुम कहते हो, 'तेरा ख़ौफ़ है, तेरा ख़ौफ़ बड़ी चीज़ है, लेकिन एक बात बताऊँ मौत! मेरे पास तेरे

ख़ौफ़ से भी ज़्यादा बड़ी एक चीज़ है। ऐसा नहीं कि मुझ पर तेरा ख़ौफ़ असर नहीं करता, लेकिन मेरे पास कुछ और भी है जिसके सामने मुझे न मौत याद रहती है, न ख़ौफ़ याद रहता है। भूल ही जाता हूँ।’

लड़ना हो तो शान्त रहकर लड़ना सीखो

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, आप एक तरफ़ कहते हैं कि शान्त रहो, मौज में रहो, मगर मैं जब देख रहा हूँ कि आसपास ग़लत हो रहा है और सही करने के लिए मुझे शायद लड़ना भी पड़े, तो वहाँ क्या मुझे वो लड़ाई लड़नी चाहिए या सबकुछ यूँही परिस्थितियों के हाथ पर छोड़ देना चाहिए?

आचार्य प्रशांत: हाँ, तो जितने अशान्त लोग हैं, उन सबके ख़िलाफ़ लड़ाई लड़नी है और उन अशान्त लोगों को देखकर के तुम भी अशान्त हो गये हो; अब तुम्हारे ख़िलाफ़ लड़ाई कौन लड़ेगा?

तुम कह रहे हो, 'मैं शान्त कैसे रहूँ जब आसपास इतना उपद्रव है?' आसपास अशान्ति है, उसको देखकर के तुम भी अशान्त हो गये और कह रहे हो, ‘मुझे उस अशान्ति से लड़ना है।’ तो पहले अगर दस अशान्त लोग थे तो अब कितने हैं?

प्र: ग्यारह।

आचार्य: इस ग्यारहवें के ख़िलाफ़ कौन लड़ेगा? आग में आग डालकर आग बुझाना चाहते हो? तुम्हें किसने कह दिया कि लड़ने के लिए अशान्त होना ज़रूरी है? ऐसे सैनिक से बचना जो लड़ने जा रहा हो और अशान्त हो, ये किसी काम का नहीं होगा।

चुआंग-ज़ू की कहानी सुनी है न, मुर्गे की? तो एक मुर्गा है, उसको तैयार किया जा रहा है मुर्गे की लड़ाई के लिए। मुर्गे एक के ऊपर एक छोड़े जाते हैं, मुर्गे आपस में लड़ते हैं। उन पर सट्टा लगता है, मनोरंजन होता है, और ये सब

चलता था। तो उसको बढ़िया खिलाया-पिलाया जाता है, उसके पंजे पैने किये जा रहे हैं।

तो उसका जो मुख्य प्रशिक्षक है वो देखने जाता है मुर्गे को, मुर्गे का एक महीने की प्रशिक्षण हुआ है अभी। और उसने देखा कि ये जो मुर्गा है, ये दूसरे मुर्गों को देखते ही फनफना करके कूदने लग जाता है, आवाज़ें मारता है। विरोधी मुर्गा अगर दूर भी है तो ये ज़मीन पर चोंच मारने लग जाता है गुस्से में। तो ये जो मुख्य प्रशिक्षक है, वो कहता है, 'अभी नहीं, इस मुर्गे की अभी और तैयारी कराओ। अभी तो ये किसी काम का नहीं है, बहुत पिटेगा!'

तो वो कुछ महीनों बाद वापस आता है, कहता है, 'अब दिखाओ इस मुर्गे के क्या हाल हैं।' देखता है, मुर्गा जो है अब पहले से थोड़ा ज़्यादा शान्त है लेकिन फिर भी जब विरोधी मुर्गा सामने आता है, दूर से दिखायी देता है तो ये पंख खड़े कर देता है, पंजा उठा लेता है। इसकी आँखें रक्तिम हो जाती हैं। वो कहता है, 'नहीं, अभी भी नहीं, और तैयारी कराओ।'

फिर कुछ महीनों बाद वो आता है। अब वो देखता है कि आस-पास उकसाने वाले, आवाज़ देने वाले कितने भी दुश्मन मुर्गे खड़े हों, ये मुर्गा चुपचाप अपनी जगह पर एकाग्र खड़ा रहता है। प्रशिक्षक बोलता है, 'अब ये मुर्गा युद्ध के लिए बिलकुल तैयार है। अब जब ये उतरेगा मैदान में तो इसको देखभर के इसका विरोधी मैदान छोड़ देगा।'

उथले जो बर्तन होते हैं, उनमें चीज़ें जल्दी उफनाने लगती हैं। उफनाने लगती हैं न? गहराई चाहिए, इतनी जल्दी नहीं उफनाते। याद रखना ये जो तुम्हारे आसपास दस लोग अशान्त हैं, वो भी तुम्हारे ही जैसे हैं। और वो इसलिए अशान्त हैं क्योंकि उन्हें भी लग रहा है कि कहीं कुछ ग़लत हो रहा है।

जैसे तुम्हें लग रहा है कि इन दस लोगों की अशान्ति ग़लत है, वैसे ही उन दस लोगों के पास भी अपने-अपने तर्क हैं अशान्ति के पक्ष में। उन्हें भी लग रहा है कि कहीं कुछ ग़लत है इसलिए अब हमें हक़ है अशान्त होने का। 'दफ़्तर में मेरी तरक्की नहीं हुई; मैं अशान्त हूँ। कोई मेरा हक़ मार ले गया; मैं क्रोधित हूँ।' सबके पास वाजिब वजह हैं अपनी दृष्टि में।

अशान्ति के लिए कोई वाजिब वजह नहीं होती। बेवकूफ़ी के पक्ष में तुम कौनसा बोध भरा तर्क दोगे?

लड़ो! स्थिर होकर, शान्त होकर, मौन होकर लड़ो। दुनिया को ऐसे लड़ाकों की बहुत ज़रूरत है। कबीर साहब का सूरमा है, वो लड़ता ही जाता है। वो कहते हैं कि वो कभी रणक्षेत्र से, खेत से हटता ही नहीं है।

"कबीर साचा सूरमा, लड़े हरि के हेत। पुर्जा पुर्जा कट मरे, तबहुं न छाड़े खेत।।"

~ कबीर साहब

ऐसा लड़ाका चाहिए, पुर्जा-पुर्जा कट जाए उसका, अंग-अंग कटकर गिर जाए लड़ाई में, फिर भी वो लड़ाई से हटे नहीं।

और उस सूरमा की पहचान जानते हो क्या है? ये अपनी सारी अशान्ति पीछे छोड़ जाता है। ये सिर पहले कटाता है, युद्ध में बाद में जाता है; अब अशान्त कौन होगा? ये खोपड़ा ही तो अशान्ति का गढ़ था, वो इसको ही पीछे छोड़ आया।

तो लड़ाई चाहिए, निश्चित रूप से चाहिए, धर्मयुद्ध चाहिए, जिहाद चाहिए, लेकिन वो धर्मयुद्ध वही कर सकता है जो बहुत शान्त हो।

तुम्हारे साथ हो वही रहा है जो तुमने तय किया है

प्रश्नकर्ता: प्रणाम आचार्य जी, आप कहते हैं "प्रतिक्षण आपके साथ बिलकुल वही हो रहा है, जो गहरे में आपकी इच्छा है।"

आचार्य प्रशांत: आपकी इच्छा है; आपका विचार है, ये नहीं कह रहा हूँ। आपकी इच्छा है। अब इसके आगे सवाल क्या है ये पूछो।

प्र: विचार के मध्य ये जो दोहरा मापदंड है, ये क्यों है? इच्छा अगर दुख की है, तो फिर हम यहाँ पर क्या कर रहे हैं? या एक वो जो दूसरा आकर्षण रहता है कि दुख से हटो, दुख से हटो। वो क्यों है फिर? वो कहाँ से उठता है, वो क्या है?

आचार्य: तुम कंप्यूटर इंजीनियर हो न। तो पॉइंटर्स (संकेतक) जानती हो? स्टैक्स (एक संरचना में वस्तुओं का संग्रह) भी जानती हो, ठीक है। तुम पॉइंटर हो। क्या हो? *पॉइंटर*। और एक स्टैक है।

स्टैक क्या होता है? एक के ऊपर एक चीज़ें रखी हुई हैं। एक के ऊपर एक, एक ढेर है, ठीक है? और वो जो पॉइंटर होता है, वो क्या करता है, वो किसी भी एड्रेस पर प्वांइट कर सकता है, ठीक है न। ये जो पॉइंटर है इसका नाम है 'अहम्'। इस पॉइंटर का क्या नाम है? अहम्।

और ये जो स्टैकिंग हुई है पूरी, ये जो ढेर लगा हुआ है, ये चित्त के अलग-अलग तल हैं। सतही तल है, फिर थोड़ा सा मध्यमी तल है, फिर एक गहरा तल है, और फिर अतल है जिसे क्या कहते हैं — आत्मा। उस अतल पर सारे तल खड़े हुए हैं, ठीक है न। तो तुम जिधर को पॉइंट करो, तुम्हें वही मिल जाएगा। तुम किस तल पर जीवन बीता रहे हो, इससे निर्धारित हो जाएगा तुम्हें मिल क्या रहा है।

वृत्ति का नाम है दुख। या ऐसे कह लो उस पॉइंटर के वृत्ति से रिश्ते का नाम है दुख। ये जो 'मैं' नाम का पॉइंटर है, जब ये वृत्ति की ओर पॉइंट करता है, तो उस रिश्ते का नाम होता है दुख।

वही पॉइंटर थोड़ा और नीचे चला जाए, तो किसकी ओर पॉइंट करेगा? अतल की ओर। उसका नाम है आनन्द। दिक्क़त बस ये है कि वो पॉइंटर जब नीचे को पॉइंट कर रहा होता है, तो पॉइंटर ही विलुप्त होने लग जाता है। तो इसीलिए आनन्द कोई अनुभूति नहीं बन पाता।

आनन्द एक रिक्तता होता है। आनन्द ऐसा होता है जैसे अहम् अपने से ही मुक्त हो गया हो। एक राहत है। तो जब मैं कह रहा हूँ कि तुम्हें वही मिलता है जीवन में, जो तुम चाहते हो, तो मैं बात कर रहा हूँ चुनाव के तुम्हारे अधिकार की।

मैं कह रहा हूँ कि ये जो पूरा स्टैक है (हाथ से इशारा करते हुए), ये जो पूरा ढेर लगा हुआ है यहाँ पर, इसमें से किसी को भी चुन लेना तुम्हारे अधिकार की बात है, तुम किसको चुन रहे हो। और जिसको तुम चुनोगे, तुम्हारा जीवन वैसा ही, उसी तल का हो जाएगा। ये तुम निर्धारित करो, तुम्हें किसे चुनना है।

इसीलिए अध्यात्म में रोने-कलपने की, शिकायत करने की, या अपनेआप को शिकार या शोषित बताने की कोई जगह होती नहीं। अध्यात्म जिस मूल समझ पर खड़ा है, वो ये है कि रो मत भाई।

तुम्हारे साथ जो भी बीत रहा है, वो तुम्हारा चुनाव है, रो क्यों रहे हो!

हाँ, तुम ये कहो कि तुममें इतनी विनम्रता आ गयी है, तुम समझने लग गये हो कि तुम आज तक ग़लत चुनाव कर रहे थे, तो हम बात कर सकते हैं। पर अगर तुम ये बताओगे कि नहीं-नहीं-नहीं, मेरे साथ तो ग़लत हुआ, मैं तो परिस्थितयों का मारा हुआ हूँ, हाय-हाय! हाय-हाय! तो अध्यात्म कहेगा, 'बाहर जाकर के हाय-हाय करो।'

कोई ग्रंथ देखा है जिसमें सूत्र हो 'हाय-हाय'? और फिर नीचे दोबारा 'हाय-हाय'? कोई दोहा, कोई श्लोक ऐसा पढ़ा है कि हाय-हाय और हाय-हाय? ऐसा तो कुछ है नहीं। यहाँ बात बल की है, प्रखरता की है, ओज और आत्म की है। है न? हमारी ज़िन्दगी, हमारा अख़्तियार।

तो क्या कह रहा हूँ मैं? प्रतिक्षण आपके साथ बिलकुल वही हो रहा है, जो गहरे में आपकी इच्छा है।' अब तुम्हारा पॉइंटर जाकर के अटक ही गया है किसी गहरी, अंधेरी, आदिम वृत्ति पर, तो तुमने अपने लिए तय कर लिया है कि दुख मिलेगा। अब ऊपर-ऊपर से तो तुम कभी मानोगे नहीं कि मैंने ही अपने लिए दुख तय किया है, इतनी ईमानदारी हममें होती नहीं। तो हम अभिनय यूँ करेंगे जैसे कि हमें तो चाहिए सुख।

ये वैसी-सी बात है कि तुमने स्विगि से मँगा लिया है अपने लिए गरमा-गरम मांस और अभिनय ये करो कि मैंने तो जी खिचड़ी ऑर्डर करी है। तुम कुछ भी अभिनय करते रहो, तुम्हें डिलीवर क्या होगा? मांस। हम ऐसे ही हैं। हमें डिलीवर वही होता है जो हम ही ने ऑर्डर करा है। पर वो जब आ जाता है तो कहते हैं, 'उफ्फ! माँ, मेरे साथ क्या हो गया।'

कुछ नहीं हो गया बेटा, जो मँगाया था वो आ गया, और आपने अभी-अभी उसका भुगतान भी किया है, वो रसीद भी देकर गया है। आपने ही मँगाया था इसलिए आया है, अब ज़्यादा भोले मत बनिए।

बात समझ में आ रही है?

आपका विचार है, ऐसा मैं नहीं कह रहा हूँ; आपकी इच्छा है जो फलित होती है। तो विचार तो ये हो सकता है कि दलिया मँगाया है मैंने, लेकिन ऑर्डर आप वास्तव में वही करोगे जो आपकी इच्छा है, गहरी इच्छा। और वो इच्छा किस बात से प्रमाणित होती है, सत्यापित होती है? पॉइंटर से (ऊँगली से इशारा करते हुए)। क्योंकि पहली इच्छा आपकी यही है कि आप पॉइंट कहाँ को कर रहे हैं।

उसको आपने जहाँ अटका दिया, अपने संकेतक को, अपने पॉइंटर को, उसी के अनुसार आपके जीवन में घटनाएँ घटने लगेंगी। आप भले ही फिर ऊपर-ऊपर किसी भी तरह का आश्चर्य व्यक्त करो कि मेरे साथ ऐसा क्यों होता है, मैं ऐसा चाहती नहीं पर मेरे साथ हो जाता है। पर उसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है, हो वास्तव में वही रहा है जो तुमने निर्धारित करा है। तुम अपनी कहानी के लेखक स्वयं हो।

‘आचार्य जी, ईश्वर ने नहीं लिखी है हमारी कहानी?’ उसका कहानियों में कोई रस नहीं है। कहानी तो फंतासी होती है, लच्छेबाजी। क्या करेगा परमब्रह्म कहानियों में रस लेकर के! कहानियाँ सब कहाँ से उठती हैं? तुम्हारे ही मन के अनेक तलों से। जब सब कहानियाँ बच्चों तुम्हारी ही हैं, तो अच्छी कहानी लिखो न। और ये तो कभी कह ही मत देना कि मेरी कहानी सड़ी हुई है, और इस सड़ी हुई कहानी का ज़िम्मेदार वो ऊपरवाला है।

मैं कह रहा हूँ न वो बुरी कहानी लिखता है, वो अच्छी कहानी भी नहीं लिखता। उसका किसी कहानी से, किसी कथा से, किसी कल्पना से कोई सरोकार नहीं है। कलम उसने किसके हाथ में रख दी है? तुम्हारे हाथ में रख दी है। तुम्हें जो लिखना हो, लिखो।

प्र: इन दोनों में यानी कि कोई असमानता है। ये चुनाव करते वक़्त अपने विचारों को और अपने चुनाव को एकसाथ देख नहीं सकता है। ऐसी परिस्थिति में फिर क्या करें?

आचार्य: इसकी असमानता ऐसी है समझ लो कि कोई हो जो जाए और आपनेआप को एचआइवी का इंजेक्शन लगा आये। और फिर घर वापस आकर ख़ूब नहाये-धोये, साफ़-सुन्दर कपड़े पहने। डिसइन्फेक्टेंट (कीटाणुनाशक) का प्रयोग करे, घर में एक मक्खी, एक मच्छर न घुसने दे। पूरे मोहल्ले में घोषणा करे कि स्वच्छता बड़ी बात है, सफ़ाई होनी चाहिए।

तो विचार के तल पर तो ये व्यक्ति क्या चाह रहा है? स्वच्छता। ये चाह रहा है गन्दगी और संक्रमण से मुक्ति। ये चाह रहा है न? और ये करके क्या आ गया है? ये कर क्या आया है? इसने पॉइंटर पर क्या लगा दिया है?

हममें से ज़्यादातर लोग ऐसे ही हैं। चुपचाप हम अपनेआप को संक्रमण का इंजेक्शन लगाते रहते हैं किसी अंधेरे-कोने में। और फिर बाहर निकलकर के बहुत पाक-पावन हो जाते हैं, ख़ूब नहाते हैं, ख़ूब धोते हैं डेटॉल से हाथ।

‘अरे! देखो इस दीवाल में कहीं पर कुछ गन्दा है, साफ़ करो, साफ़ करो, साफ़ करो।’ अब तुम बताओ कि विचार क्या है? और इच्छा क्या है?

विचार और वृत्ति में अंतर समझ रहे हो? जिसको मैंने यहाँ इच्छा कहा है, वो मैं गहरी वृत्ति की बात कर रहा हूँ। वैचारिक तल पर तुम क्या चाह रहे हो? सफ़ाई। वैचारिक तल पर तुम चाह रहे हो स्वच्छता, और वृत्ति के तल पर तुम चाह रहे हो संक्रमण। मिलेगा क्या?

दोनों मिलेंगे। बाहर-बाहर स्वच्छता और भीतर संक्रमण; दोनों मिलेंगे। हमें दोनों मिलते हैं। वैचारिक तल पर जो हम चाहते हैं, वो हमें बाहर–बाहर मिल जाता है। और वृत्तिगत तल पर जो हम चाहते हैं, वैसी हमारे मन की दशा हो जाती है।

'मैं' के बारे में जानने के लिए मेरी ओर मत देखो, किसी भी इंसान की ओर देख लो। इंसान जो कुछ कर रहा है वही तो 'मैं' की करतूत है न। तो देखो लोग क्या करते हैं, वहीं तुम्हें पता चल जाएगा कि इस 'मैं' की प्रकृति क्या है। पता चल जाएगा कि नहीं चल जाएगा?

प्र: चल जाएगा।

आचार्य: हाँ, तो बस। तो जो मैंने कहा लोग वैसा करते हैं कि नहीं करते हैं?

प्र: करते हैं।

आचार्य: हाँ, तो 'मैं' ऐसा ही है। कि जैसे कोई दिनभर उपवास करे, दिनभर उपवास करे। और रात को जब सो जाएँ सब और कहीं किसी को पता न लग रहा हो, तो ट्वेन्टीफ़ोर सेवन में जाकर के चीज़ बर्गर दो-तीन साफ़ कर आये। हम ऐसे होते हैं। लोग ऐसे होते हैं कि नहीं होते हैं, बोलो?

तो बस यहीं से समझ लो कि हमारे प्रकट इरादे कुछ और होते हैं और प्रछन्न वासनाएँ बिलकुल दूसरी होती हैं।

खलिल जिब्रान की एक कहानी है, सुनोगी? माँ बेटी की कहानी है, माँ और बेटी। तो एक थी माँ, और एक थी बेटी। और दोनों को नींद में चलने की आदत; चलें और बोलें। तो एक रात ऐसा हुआ कि माँ-बेटी दोनों नींद में चलने लगीं और चलते-चलते जाकर के बाहर बगीचे में टकरा गईं एक-दूसरे से। अभी नींद में हैं दोनों। जब नींद में हो तो तुम्हारी जो चेतना के जाग्रत तल हैं, वो अभी निष्क्रिय हैं, वो अभी सोये पड़े हैं। जब तुम नींद में होते हो तो क्या सक्रिय हो जाती हैं? गहरी, वृत्तियाँ; नींद में वो सक्रिय हो जाती हैं।

तो ये माँ-बेटी जाकर के बाहर बगीचे में टकरा गईं। दोनों अभी नींद में ही हैं, और लगीं एक-दूसरे को गरियाने। बेटी बोल रही है, 'तेरी वजह से मेरी ज़िन्दगी ख़राब हुई है, तेरी जैसी माँ किसी दुश्मन को न मिले!' चुनिंदा गालियाँ।

अब ये कहानी खलिल जिब्रान और आचार्य जी, दोनों की हो गयी। आचार्य जी ने भी अब अपना. . .। (श्रोतागण हँसते हैं) उसके बिना मैं आगे बढ़ नहीं पाता, कुछ तो मिलाना पड़ता है न।

और माँ ने भी बढ़िया खरी-खोटी सुनायी।

एक तो हॉस्टल में छ: साल बिताने का नतीजा ये होता है कि जैसे ही कोई बात व्यक्त करनी होती है खरी-खोटी वाली, कि इतिहास सक्रिय हो जाता है। वो सब चुनिंदा अल्फ़ाज़, जो बीटेक और एमबीए में बिलकुल ज़बान पर रहते थे, वो दोबारा मचलने लगते हैं। खैर कोई बात नहीं।

तो माँ भी अब कह रही है कि तू पैदा हुई, तेरी वजह से मुझे पचास तरह की ज़िम्मेदारियाँ लेनी पड़ीं। तू मेरी खाल का कोढ़ है, तू ये है, तू वो है, जो भी। तो ये अपना गाली-गलौज चल रही है, चल रही है, और तभी सुबह हो जाती है, मुर्गा बोलता है 'कुकड़ू-कु', दोनों जग जाती हैं। और जगते ही बिटिया कहती हैं, 'ओ माँ! तुम यहाँ क्या कर रही हो बाहर ठंड में? तुम्हें कुछ हो गया तो मैं जियूँगी कैसे?' और माँ कहती है, 'बेटी, ये कोई तरीक़ा है रात में ऐसे बाहर आने का! तेरी ख़ातिर जीती हूँ, तुझे किसी की नज़र लग गयी तो मैं तत्काल मर जाऊँगी।'

ये आदमी का जीवन है, ऊपर-ऊपर कुछ और, और अंदर-अंदर बिलकुल कुछ और।

और जो आदमी के मन के इन तलों को, इन स्टैक्स को नहीं समझता, वो धोखे में रह जाएगा। वो बस अपने आचरण को देखेगा ऊपर-ऊपर से और उसको लगेगा कि मैं तो अच्छा ही आदमी हूँ। वो कभी समझ ही नहीं पाएगा कि उसके मन की गहराइयों में कौन-कौन से राक्षस पल रहे हैं, ठहाके लगा रहे हैं।

आधुनिक मनोविज्ञान का बड़ा योगदान रहा है आदमी के मन को वैज्ञानिक तरीक़े से समझने में। फ्रायड ने, यंग ने आदमी का जो सोया हुआ मन है, जो प्रसुप्त मन है, अचेतन या अर्धचेतन मन है, उस पर ख़ूब काम किया। जो बातें मैं अभी यहाँ पर कह रहा हूँ, इनसे वो बिलकुल सहमत रहते।

गहराई में हमारा पॉइंटर कहीं और होता है, और ऊपर-ऊपर से हमारा प्रदर्शन बिलकुल कुछ और होता है। और मैं समझा रहा हूँ कि आपके साथ वो नहीं होगा, जिसकी बात आप ऊपर-ऊपर कर रहे हो, आपके साथ वो सबकुछ होगा जो गहरे-गहरे आपने निश्चित कर दिया है।

ये गहराई वाले मामले का फिर समाधान क्या है?

सामाजिक तल पर माना गया कि अगर विचारों के तल पर कुछ गड़बड़ दिख रही है, तो उसका इलाज है बेहतर विचार। कहा गया, 'कुविचार का इलाज हैं सुविचार।' अब आदमी की पकड़ में विचार से ज़्यादा तो कुछ है ही नहीं, वृत्ति पर तो उसका बस चलता नहीं। तो नासमझ लोगों ने ये तरीक़ा निकाला कि वृत्तियों को काटने के लिए भी विचार

का सहारा लो। उन्होंने कहा, ‘अच्छा सोचो, अच्छा सोचो। बेहतर सोचो। या अगर ग़लत सोच रहे हो तो सोचना बन्द करो। सोचना बन्द करो, सोच का दमन करो।’ न।

वृत्ति विचार से नीचे बैठी है, वृत्ति विचार की अम्मा है। विचार वृत्ति को नहीं जीत पाएगा। वृत्ति को जीतने के लिए कोई चाहिए जो वृत्ति से भी गहरे बैठा हो। यहाँ अध्यात्म की उपयोगिता है।

विचार, विचार से नीचे है वृत्ति — और ये विचारों के भी कई तल होते हैं। सतही विचार होता है, फिर गहरा विचार होता है, फिर ये होता है, फिर वो होता है। वृत्तियों के भी कई तल होते हैं, पूरा स्टैक है। और इन सबमें मैंने कहा था कि इन सब तलों से नीचे एक अतल बैठा हुआ है, उसका क्या नाम? आत्मा।

तो वृत्ति को अगर जीतना हो तो वृत्ति से नीचे जाना पड़ेगा, आत्मा तक जाना पड़ेगा, यही अध्यात्म है। और मात्र वही तरीक़ा है स्वयं को जीतने का, मात्र वही तरीक़ा है स्वयं के परिशोधन का। उसके अलावा कोई नहीं।

प्र: ये जो आप बोल रहे हैं, 'आत्मा तक जाना पड़ेगा', कृपया इसे स्पष्ट करें।

आचार्य: गहराई में जाना पड़ेगा। ऐसे समझ लो व्यावहारिक तौर पर कि अपनेआप को सिर्फ़ सतह-सतह पर नहीं देखना पड़ेगा, पूरी जान लगा देनी पड़ेगी। कह देना पड़ेगा कि मुझे सच चाहिए। ये जो सच की साधना है, यही तो अध्यात्म है न।

कहना होगा कि ऊपर-ऊपर जो मुझे दिख रहा है, मुझे उस पर बहुत भरोसा नहीं है। हक़ीक़त क्या है मेरी, मुझे ज़रा ये पता करने दो। और उसके लिए तरीक़े हैं — अवलोकन, तरीक़ा है प्रयोग, और तरीक़ा है श्रवण। सब तरीक़ों का इस्तेमाल करो। अपनेआप को देखो भी, अपने ऊपर प्रयोग भी करो, और अपने बारे में जो ज्ञान मिल सकता है किसी और से सुनने से, उसको सुनो भी। सब तरीक़ों का इस्तेमाल करो।

तुम कमज़ोर हो, इसलिए लोग तुम्हें दबाते हैं

प्रश्नकर्ता: प्रणाम, आचार्य जी। मैं बचपन से एक धार्मिक परिवार में पला-बढ़ा हूँ। बचपन से पूजा-पाठ हमारे घर में चलता था। रामायण-महाभारत हमारे घर में चलता था। तो उन सब का देखा-देखी मैं भी सबसे रामायण-महाभारत साझा करता था। लोग खुश होते थे और मुझे भी एक तरह का प्रोत्साहन मिलता था। पर जैसे-जैसे मैं जीवन में आगे बढ़ा, ग्यारहवीं-बारहवीं में आया, तो इन चीज़ों से अरुचि हो गयी।

अब पिछले साल लॉकडाउन के कारण मैं घर में रहा, तो काफ़ी खाली समय था मेरे पास। उस खाली समय में मैंने आपके वीडियोज़ और लेक्चर सुनना शुरू किया। मेरा फिर से स्पिरिचुअलिटी (अध्यात्म) की तरफ़ ध्यान बढ़ गया और मैं आपकी वीडियो अपने दोस्तों-रिश्तेदारों से शेयर (साझा) करने लगा, लेकिन अब वो इतना विरोध क्यों कर रहे हैं?

आचार्य प्रशांत: मुझे नहीं पता वो क्या कर रहे हैं। वो थोड़े ही शिविर में आये हैं। तुम छोटे से बच्चे हो क्या कि मम्मी-पापा की शिकायत दूसरे डैडी जी से करने आये हो? और छब्बीस की उम्र में, जिससे तुम बात कर रहे हो, वो भी अगर ऐसे ही किसी की शिकायत किसी से कर रहा होता, तो आज मैं तुम्हारे सामने बैठा होता?

मैं क्यों इस बात पर ध्यान दूँ कि तुम्हारे मम्मी-पापा तुम्हें रामायण-महाभारत पढ़ाते थे कि नहीं पढ़ाते थे, आज वो तुम्हारी रुचियों को पसन्द करते हैं कि नहीं करते हैं? ये उनका मामला है, वो जब शिविर में आएँगे तो उनसे बात कर लूँगा। तुम अपनी बताओ।

प्र: वो रोकते हैं मुझे।

आचार्य: तुम छब्बीस साल के हो! तुम छोटे से बच्चे हो, ऐसी शिकायत कर रहे हो खड़े होकर के? ये लाज की बात है! 'मम्मी-पापा रोक रहे हैं, मम्मी-पापा रोक रहे हैं', दो साल के हो? छ: साल के हो? नहीं, छब्बीस साल के हैं। कैसे रोक रहे हैं? उन्हें दिख ही रहा होगा कि तुम रोकने लायक़ हो, इसलिए रोक रहे हैं। एक जवान शेर को कौन रोक सकता है? तुम जवान हुए ही नहीं, इसलिए तुम्हें रोक रहे हैं। मैं रोकने वालों की बात करूँ या रुकने वाले की?

प्र: रुकने वाले की।

आचार्य: हाँ, तो अपना बताओ न तुम्हें कैसे कोई भी रोक लेता है? ये जो तुमने पूरी कहानी सुनायी, ये सुनने में ही भद्दी थी। ये कहानी आठ-दस-बारह साल तक शोभा देती है, उसके बाद नहीं। 'मैं नौकरी कर रहा हूँ, मैं छब्बीस साल का हूँ, मैं अध्यात्म की ओर बढ़ रहा हूँ, मैं जो भी कुछ कर रहा हूँ, मम्मी ने मना कर दिया।'

प्र: आसपास का जो माहौल है वो रोकता है।

आचार्य: अरे! तो वो क्यों है तुम्हारे आसपास? और अगर तुम्हारे आसपास भी है, तो उसकी हिम्मत कैसे पड़ जाती है तुमसे उल्टी-पुल्टी बातें बोलने की? लोग भी न बन्दा देखकर के और शक्ल देखकर बोलते हैं। तुम शेर की तरह रहो, शेर की तरह जियो, किसी की ख़ुद ही हिम्मत नहीं पड़ेगी तुम पर आक्षेप, आपत्ति करने की।

पहली शर्म तो तभी आ जानी चाहिए जब कोई आकर के तुम्हारे मसलों में हस्तक्षेप करे। बात ये नहीं है कि उसने जो भी कहा वो सही है या ग़लत। बात ये है कि उसने जो भी कहा उसने कह कैसे दिया?

ज़रूर तुमने ही ऐसे इशारे दिये हैं कि मैं कमज़ोर आदमी हूँ और मुझसे कोई कुछ भी कह सकता है। तुमने अपना ब्रांड ऐसा लुचुर-पुचुर बना क्यों रखा है? और ऊपर से दूसरों की शिकायत कर रहे हो कि फ़लानों ने आकर मेरे साथ बड़ी ज़्यादती कर दी।

प्र: इस चीज़ से लड़ूँ कैसे?

आचार्य: लड़ने की ज़रूरत ही नहीं है। तुम्हें ऐसा हो जाना है कि किसी की हिम्मत ही नहीं पड़े तुमसे ये सब बातें बोलने की। देखो, बीमारी भी कमज़ोर आदमी पर हमला करती है। सबसे पहले ये समझो कि दूसरे तुममें कमज़ोरी देख रहे हैं न, इसलिए तुम पर चढ़ने की कोशिश कर रहे हैं। अगर वो तुममें कमज़ोरी देखेंगे ही नहीं तो तुम पर चढ़ने की कोशिश भी नहीं करेंगे।

और अगर तुम्हारे ही माँ-बाप हैं और कमज़ोरी देख रहे हैं, तो कमज़ोरी होगी भी। वो बिलकुल तुम्हारी असलियत से वाक़िफ़ हैं, उन्हें दिख रहा है कि ये लड़का तो है ही कमज़ोर, तो इसका हाथ उमेठ सकते हैं, इसके कान भी मरोड़ सकते हैं। नहीं तो छब्बीस साल के जवान पर कौन धौंस चला सकता है!

देखो, अध्यात्म ऐसे ही नहीं होता कि हल्की-फुल्की चीज़ है, कोई भी कर ले। बैठकर कहीं भजन ही तो गाने हैं, उसके बाद बूंदी के लड्डू खाने हैं। ये पंजीरी वाला अध्यात्म किसी काम का नहीं होता कि छुन्नू गया मन्दिर की घंटी बजायी और वहाँ पर चरणामृत और पंजीरी लेकर वापस आ गया और धार्मिक कहला गया। जिगर चाहिए, हौसला चाहिए, भीतर ज़रा आग चाहिए, आँखों में तेज चाहिए। किसी की हिम्मत नहीं होनी चाहिए तुमसे फालतू बात करने की।

पहला अपमान तो यही है कि वो ऐसी बात कर कैसे गया। उसके बाद तुम उसको सज़ा दे लो, चाहे उसको मना कर दो, इससे नुक़सान की भरपाई नहीं होने वाली। सबसे पहले तो यही पूछो अपनेआप से कि इसने ऐसी बात करी माने

इसने मुझमें ज़रूर कोई कमज़ोरी देखी है। 'कर कैसे दी ऐसी बात?' इसीलिए कहा जाता है न कि महावीर चलते थे, तो जो हिंसक पशु भी होते थे, वो बिलकुल गाय की तरह हो जाते थे।

प्र: जो अपने बिलकुल निकटतम हैं उनके लिए ऐसा मन में आता है कि उनको ठेस नहीं पहुँचानी है।

आचार्य: हाँ, बस यही तो कमज़ोरी है जो उन्होंने देख ली है तुममें। अरे! किसी अच्छी चीज़ को ठेस नहीं पहुँचायी जाती भई! तुम्हारे घर में जाले लगे होते हैं, तो तुम क्या बोलते हो, 'इनको ठेस नहीं पहुँचानी है?' अगर आँखों में जाले हों, कैटरेक्ट (मोतियाबिंद), तो उसको भी ठेस नहीं पहुँचानी है? जब घर के जाले भी हटा देते हो, आँखों के जाले भी हटा देते हो, तो मन के जाले क्यों नहीं हटा सकते? वहाँ क्यों बोलते हो, 'अरे! मैं किसी के मन को ठेस कैसे पहुँचा दूँ?' वहाँ क्यों बोलते हो?

तुम मन को ठेस नहीं पहुँचा रहे, मन के जालों को ठेस पहुँचा रहे हो और तुम जिसके मन के जाले साफ़ कर रहे हो, उस पर एहसान कर रहे हो। ठसक के साथ करो। इसमें शर्मिंदा होने की क्या बात है कि मैंने फ़लाने को ठेस पहुँचा दी?

सर्जन (शल्य चिकित्सक) प्रायश्चित करने गया है। क्या? 'मैंने फ़लाने का पेट फाड़ दिया।' भाई, तुमने एहसान करा है उसकी सर्जरी करके, तुम प्रायश्चित किस बात का कर रहे हो? पर फिर वही, हम यथार्थ में तो जीते ही नहीं हैं, हम तो आदर्शों और कल्पनाओं में जीते हैं और तुम हो आदर्श पुत्र जो माँ-बाप से बहस नहीं लड़ा सकता। न सच बड़ा है, न आज़ादी बड़ी है, क्या बड़े हैं? मध्यमवर्गीय संस्कार। और वही है — 'घर में रामायण-महाभारत चलती थी।'

प्र: हाँ, मैं मानता हूँ मैं डरपोक हूँ। इस बात पर ग्लानि भी आती है कि उनसे जो चीज़ कहनी है, वो कह नहीं पा रहा हूँ। जैसे आपके सम्पर्क में आने के बाद मैंने दूध, डेयरी वगैरह बिलकुल छोड़ दिया है। लेकिन पेरेंट्स (माता-पिता) और आसपास के लोग सुनते नहीं हैं। और मुझे बहुत ग्लानि भी होती है कि जिनसे कहने की बहुत ज़रूरत है उनसे मैं कह भी नहीं पा रहा।

आचार्य: कहना तुम्हारे हाथ में है, पर मानना या न मानना उनके हाथ में है, क्योंकि मानने की क़ीमत देनी पड़ती है भाई। तुम उन्हें कोई चीज़ दिखा सकते हो और बता सकते हो कि इसकी इतनी क़ीमत है, पर तुम उनके लिए उस चीज़ की क़ीमत ख़ुद तो नहीं अदा कर सकते न।

मम्मी जी चाय नहीं छोड़ना चाहतीं। तुम उन्हें बार-बार बता रहे हो कि दूध पीने में क्रूरता है। अब चाय तो मम्मी जी को ही छोड़नी है, मम्मी जी के लिए तुम थोड़े ही छोड़ सकते हो। तुम अपने लिए छोड़ सकते हो, तुमने शायद छोड़ भी दी होगी।

हाँ, अब तुम लाख बताते रहो मम्मी जी को कि ये जो दूध निकाला जा रहा है और जो पूरा दुग्ध-उद्योग है यह माँस उद्योग से जुड़ा हुआ है — यह क्रूरता है! क्रूरता है! मम्मी जी को अगर चाय और लस्सी और खीर की लत लगी हुई है, तो वो नहीं छोड़ेंगी। अब तुम क्यों परेशान हो? उनकी करनी उनके साथ।

प्र: जैसे कभी-कभार मैं दोस्तों के साथ खाने पर जाता हूँ। कुछ शाकाहारी दोस्त हैं, कुछ माँसाहारी भी हैं।

आचार्य: अरे! दूसरे दोस्त बना लो, इसमें इतने क्यों परेशान हो रहे हो।

प्र: नहीं, मैं चाहता हूँ कि वो भी माँसाहार छोड़ें।

आचार्य: उन्हीं को काहे को चाहते हो? दुनिया में आठ–सौ-करोड़ लोग हैं, उनको क्यों नहीं चाहते?

प्र: जो एकदम मेरे आसपास हैं उन्हें तो चाहता हूँ।

आचार्य: ये (शिविर में उपस्थित श्रोताओं को सम्बोधित करते हुए) भी तो आसपास बैठे हैं, इनको चाह लो! वो जो आस-पास हैं, वो आस-पास नहीं हैं, उनसे तुमको मानसिक सुरक्षा मिलती है। तो तुम ये कह रहे हो कि इनको छोड़ना भी नहीं पड़े, ये ही सुधर जाएँ तो इससे बढ़िया क्या होगा। और वो हों ही नहीं सुधरने के लायक़, तो?

सुधरना और नहीं सुधरना है, ये हर व्यक्ति का निजी फैसला होता है, क्योंकि क़ीमत उसे ही अदा करनी है। फिर बता रहा हूँ, उसके लिए, उसके बिहाफ़ (की ओर से) पर तुम क़ीमत नहीं अदा कर पाओगे; कर सकते ही नहीं, नियम है।

चाय उसे ही छोड़नी है, माँस उसे ही छोड़ना है, तुम कैसे छोड़ दोगे उसकी जगह? अब वो नहीं छोड़ने को राज़ी है तो अब ये उसका अपना स्वाधीन फैसला है, तुम बस ये कर सकते हो कि वो माँस नहीं छोड़ रहा, तुम उसे छोड़ दो।

प्र: वो कह रहे हैं कि एक तरह से तुम इनटॉलरेंट (असहिष्णु) हो रहे हो।

आचार्य: तुम्हें ये सुनना क्यों ज़रूरी है? वो जो भी बोल रहे हैं, इनटॉलरेंट हो रहे हो, वो कुछ भी बोल सकते हैं। वो बोल सकते हैं कि तुम कुछ और हो रहे हो, तुम एलियन हो रहे हो, तुम यूएफओ हो गये। वो तुम्हें कुछ भी बोल सकते हैं, तो उससे क्या हो गया?

बात ये नहीं है कि वो बोल रहे हैं। बात ये है कि तुम्हें कौनसी मजबूरी है कि तुम बैठे-बैठे सिर झुकाये सुन रहे हो? उठ कर चल दो। वो बोल भी इसीलिए पा रहे हैं क्योंकि उन्हें पता है कि तुम सिर झुकाकर सुनते रहोगे, वो कुछ भी बोलें। और जब आपको पता है कि आप कुछ भी बोलेंगे और सामने वाला सिर झुकाकर सुनता ही रहेगा, तो फिर आप वास्तव में कुछ भी बोलेंगे। आपकी बेहूदगी की, झूठ की, और बद्तमीज़ी की फिर कोई सीमा ही नहीं रह जाएगी, क्योंकि सामने जो बैठा है वो तो ऐसा ही है — रीढ़ के बिना, लुचुर-लुचुर बैठा है — कुछ भी बोलो, वो सुनता रहेगा।

ज़ाहिर सी बात है क्योंकि सुनने-सुनाने की बात नहीं है, क़ीमत अदा करने की बात है। जो भीतर से तैयार ही नहीं है क़ीमत देने को उसकी कोई प्रगति या सुधार कोई दूसरा कैसे कर देगा?

तनाव और दबाव नहीं झेल पाते?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी, नमस्ते। मैं तनाव, दबाव माने प्रेशर सिचुएशन (तनावपूर्ण स्थिति) झेल नहीं पाता हूँ। जैसे ही मुझ पर दबाव पड़ता है बाहर से, मैं टूट जाता हूँ अन्दर से। अभी जवान हूँ तो ये हालत है और पूरी ज़िन्दगी सामने पड़ी है। न जाने क्या-क्या चुनौतियाँ आनी हैं, कैसे झेलूँगा?

आचार्य प्रशांत: देखो, कोई भी बाहरी दबाव किसी ऐसी ही चीज़ को तोड़ सकता है जिसको वो स्पर्श कर सके, है न? बात समझ रहे हो? जो चीज़ जिस आयाम में है, वो उस आयाम के ही किसी बल द्वारा तोड़ी जा सकती है। आयाम समझते हो? तल। अब उदाहरण के लिए, ये जो मेज़ है मेरे सामने, ये एक आयाम है, एक तल है, एक डायमेंशन है। ठीक है? इसको मैं एक मुक्का मारकर शायद तोड़ सकता हूँ, लेकिन इसको तोड़ने के लिए ज़रूरी होगा कि मुक्का इसी तल पर आकर इस मेज़ से टकराए। है न?

अगर इससे कुछ दूर जाकर के या ऊपर जाकर के या नीचे जाकर के मैं मुक्केबाज़ी करूँ, मैं दीवार पर मुक्का मारूँ या मैं हवा में मुक्का चलाऊँ तो क्या ये मेज़ टूटेगी? नहीं न। कोई भी वस्तु अपने ही तल की किसी ताक़त का दबाव अनुभव कर सकती है।

तुमने लिखा है — दबाव पड़ता है बाहर से, टूट जाता हूँ मैं अन्दर से। बाहर की चीज़ अन्दर की चीज़ को कैसे तोड़ सकती है? इसका मतलब तो फिर ये है कि अन्दर-बाहर एक है। इसका मतलब जो अन्दर है, वो अन्दर है ही नहीं अभी पूरी तरीक़े से। अन्दर और बाहर में सन्धि है। अन्दर और बाहर में एक एका है। नहीं तो बाहर जो हो रहा होता वो हो रहा होता, अन्दर तक पहुँच ही नहीं होती बाहर वाले की। बाहर का आयाम अलग होता, अन्दर का आयाम अलग होता। बाहर के आयाम में घटती कोई घटना अगर अन्दर इतना अन्दर डाल रही है, तो इसका मतलब जो अन्दर है वो वास्तव में अन्दर है ही नहीं। वो बाहर का ही हिस्सा है। वो बाहर से ही जुड़ा हुआ है, है न? अगर अन्दर जो है वो बाहर से जुड़ा हुआ नहीं है, तो बाहर घटती घटना अन्दर टूट-फूट कैसे कर देती?

मतलब समझो। अन्दर जो होता है न, उसे आत्मा कहते हैं। आत्मा वो है जो अस्पर्शित रहती है दुनिया की हर चीज़ से। उसे कोई छू नहीं सकता, उसे कोई कँपा नहीं सकता, उसे देखा नहीं जा सकता, उस तक पहुँचा नहीं जा सकता, तो उसे तोड़ा कैसे जा सकता है? वो अटूट है, अकाट्य है, अछेद्य है, अवध्य है, अखंड है, उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। याद है न — 'नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि'; शस्त्र उसको छेद नहीं सकते, अर्जुन! और पावक, माने अग्नि उसको जला नहीं सकती। वो आत्मा है।

क्योंकि शस्त्र आयेगा तो बाहर-बाहर कुछ कर लेगा न! बाहर क्या होता है? ये शरीर होता है। बाहर शरीर होता है, माने खाल ही भर शरीर नहीं होती, जहाँ तक शरीर है उस पूरी जगह को शरीर ही मानते हैं। यहाँ तक कि ये जो तुम्हारा दिल है, हृदय है, चाहे तुम्हारे फेफड़े हों, ये भी बाहर ही हैं, क्योंकि बाहर का कोई तीर आकर के इनको छू जाएगा। है न?

और क्या कह रहे हैं कृष्ण? कि आत्मा वो है जिसे शस्त्र बेध नहीं सकता। तुम्हारा जो दिल है, हृदय है या तुम्हारा जो फेफड़ा है या तुम्हारे भीतर जो भी हड्डी-माँस वगैरह हैं, वो सब तो बाहर की गोलियों से और तीरों से बींधे जा सकते हैं न, तो वो भी बाहरी ही हैं।

व्यक्ति के पास कुछ ऐसा होना चाहिए जिसे कुछ नहीं छू सकता दुनिया का। व्यक्ति के पास वही होना चाहिए जिसकी चर्चा श्रीकृष्ण अर्जुन से बार-बार कर रहे हैं — "पानी उसे भिगा नहीं सकता, धूप उसे सुखा नहीं सकती, आग उसे जला नहीं सकती, जन्म उसका होता नहीं, मृत्यु उसे मार नहीं सकती।" वो अगर नहीं है तो तुम दुनिया के ही आश्रित-गुलाम रहे आओगे। फिर वही हालत रहेगी जो तुमने यहाँ लिखा है कि बाहर से दबाव पड़ा नहीं कि भीतर टूट गये। इसका मतलब जिसको तुम भीतर समझ रहे हो, वो बाहरी का ही निर्माण है।

बाहरी क्या है? बाहरी देह है, बाहरी मन है, बाहरी समाज है, बाहरी समाज से आने वाले सब प्रभाव हैं। ये सब बाहरी चीज़ें होती हैं।

तुमने जिसको अपनी हस्ती, अपना वजूद माना है, वो सब कुल-मिलाकर के इसी से निर्मित है क्या? लग तो ऐसा ही रहा है। तुम्हारी अपनी जैसे कोई आंतरिकता है ही नहीं। तुम्हारे विचार कहाँ से आये? बाहर से आये। तुम्हारा पैसा कहाँ से आया? बाहर से आया। तुम्हारा नाम कहाँ से आया? वो ख़ानदान से आया। तुम्हारा शरीर कहाँ से आया? माँ-बाप से आया। शिक्षा कहाँ से आयी? बाहर की शिक्षा-व्यवस्था से आयी। रुचियाँ कहाँ से आयीं? माहौल से आयीं। देह जो इतनी बड़ी हो गयी है अब, इसका आकार और विस्तार कहाँ से आया? बाहर से लिए हुए अन्न-जल से आया, हवा-पानी से आया।

जो भी कुछ तुम्हारे पास है — भावना, विचार, तुम्हारी पूरी अस्मिता — वो तुमने कहाँ से पायी? वो तुमने दुनिया से ही पायी। जब दुनिया से ही पायी तो तुम पूरे के पूरे फिर बाहरी हो न।

दो-तीन साल पहले, छोटे-छोटे बच्चे थे, उनके साथ मैं पहाड़ों पर शिविर कर रहा था। तो उनके साथ मैंने गाना गाया था। वो शायद अभी यूट्यूब पर होगा। क्या था वो गाना? "मैं पूरा बाहरी हूँ।" वो गाना तुम्हारे ही लिए है। उसको सुनना तुम — "मैं पूरा बाहरी हूँ।" वहीं लगे हाथ, वो बच्चे थे छोटे, उनके साथ गाते-गाते ही गीत की रचना होती गयी और मैं गाता गया। "मैँ पूरा बाहरी हूँ...।" (गाते हुए)

मैं तो पता नहीं पूरा बाहरी हूँ कि नहीं, पर तुम ज़रूर हो (प्रश्नकर्ता को सम्बोधित करते हुए)। और यही ख़तरा है पूरे तरीक़े से दुनिया की निर्मित्ति बन जाने में। जो दुनिया का है उसे दुनिया के ही हिसाब से चलना पड़ेगा। जो दुनिया का है, दुनिया उसे बना भी सकती है, बिगाड़ भी सकती है। सुख भी दे सकती है, दुख भी दे सकती है। झूला झुलाती है उसे फिर दुनिया — कभी उठा देगी, कभी गिरा देगी। दुनिया के रहम-ओ-करम पर हो जाता है; बड़ी गुलामी, बड़ी निर्भरता!

ऐसे नहीं होना है। जो ऐसे जी रहा है, वो फिर जी ही नहीं रहा है। उसका जीवन तो फिर ऐसे ही हो गया बिलकुल जड़, किसी यंत्र जैसा। कोई और आकर बटन दबा रहा है, कोई और आकर के उससे काम करा रहा है, कोई और तय कर रहा है कि कब चलेगा, कब सोएगा।

आत्मा तक पहुँचना होता है। आत्मा तक पहुँचने का ज़रिया क्या है? आत्मा तक पहुँचने का ज़रिया है अध्यात्म। आत्मा तक पहुँचने का ज़रिया है आत्म-जिज्ञासा। इसीलिए तो ये पूरा क्षेत्र है न विज्ञान का, अन्दरूनी विज्ञान का। इसके बिना बाहर-बाहर तुम जो कुछ भी हासिल कर लो — पद, प्रतिष्ठा, ज्ञान — वो सब होते हुए भी तुम डरे-डरे रहोगे, टूटे-टूटे रहोगे। दुनिया तुम्हारे सिर चढ़कर नाचेगी।

समझो कि कौन हो तुम, समझो कि कौन नहीं हो तुम। और शुरुआत करनी पड़ेगी ये समझने से कि क्या नहीं हो तुम। शुरुआत करनी पड़ेगी — 'मैं क्या नहीं हूँ? कौन नहीं हूँ मैं?' और फिर तुम पहुँच जाओगे — 'कौन हूँ मैं?', इस प्रश्न पर।

पहले झूठ काटना पड़ेगा। झूठ ही तो सच के ऊपर तमाम तरह का पर्दा बनकर बैठा रहता है न? तो शुरुआत करनी पड़ेगी झूठ को काटने से। उसमें सहारा देते हैं उच्चतम कोटि के आध्यात्मिक ग्रन्थ। एक माहौल पैदा करते हैं वो। कुछ सवाल पूछते हैं वो तुमसे। कोई तुम पर अपनी बात थोपते नहीं, तुम्हें विवश कर देते हैं कुछ सोचने के लिए। तुम्हें विवश कर देते हैं कुछ ऐसे सवालों से उलझने के लिए जो सामान्यतया हमारे सामने आते नहीं हैं।

तो, वो सबकुछ जो बाहरी है पर भीतरी बनकर बैठ गया है, अध्यात्म उसको काटता है। जैसे-जैसे वो कटता जाता है, वैसे-वैसे तुम उसको पाते जाते हो जो बाहरी नहीं है, जो बिलकुल तुम्हारा अपना है। उसके बाद कोई बाहरी दबाव तुमको परेशान नहीं कर पाएगा। बिलकुल नहीं।

सोना, सज्जन, साधुजन, टूट जुड़ें सौ बार। दुर्जन कुम्भ कुम्हार के, एकै धका दरार।।

~ कबीर साहब

आ रही है बात समझ में?

उसके बाद, बाहर से कितने भी तुम पर आघात होते रहेंगे, "टूट जुरै सौ बार"। सोना, सज्जन, साधुजन, इन पर बाहर से बहुत चोटें पड़ती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि टूट ही गये लेकिन थोड़ी देर में देखो तो ये जुड़े होते हैं। तुम इन्हें सौ बार तोड़ो, ये सौ बार तुमको जुड़े हुए मिलेंगे, क्योंकि इनके पास कुछ ऐसा है जो सब तरह के आघात-अपघात झेल जाएगा। वो बहुत मज़बूत है।

वो जो इनके पास है, वो तुम्हारे पास भी है; बस उस तक पहुँचना है। तो आत्मजिज्ञासा और अध्यात्म के साथ रहो। धीरे-धीरे दुनिया के प्रति निरपेक्ष होते जाओगे। दुनिया के प्रति बस साक्षी जैसे होते जाओगे। दुनिया कुछ बिगाड़ नहीं पाएगी तुम्हारा।

कौन है हमारा चोर? कैसे पकड़ें उसे?

प्रश्नकर्ता: आचार्य जी प्रणाम, कबीर साहब का दोहा है, साखी है:

अपने अपने चोर को, सब कोय डारै मार। मेरा चोर मुझको मिलै, सरबस डारूँ वार।।

~ कबीर साहब

इस पर ज़रा प्रकाश डालें।

आचार्य प्रशांत: "अपने अपने चोर को, सब कोई डारै मार।" कौन है ये चोर? इतना सर्वव्यापक कैसे है कि सभी को लगा हुआ है? सभी की इससे दुश्मनी क्या है?

चोर वो जो दुख देता हो, संताप। वो, जो तुम्हारा चैन चुरा ले गया है, शान्ति चुरा ले गया है, वो, जिसके कारण तुम उसी को नहीं पा पाते जो तुम्हारा है, उसका नाम चोर। कौन होता है चोर? जो तुम्हारी अपनी वस्तु तुमसे चुरा ले, छीन ले जाए, हर ले। ठीक?

क्या है तुम्हारा अपना, बिलकुल निजी? जो किसी ने दिया नहीं, किसी के देने से नहीं मिलेगा। जिसको बताने वालों ने स्वभाव कहा है, आत्मा कहा है। जिसका वर्णन सच्चिदानन्द कहकर किया गया है। वही है तुम्हारा।

कौन चुरा लेता है उसको? उसको बहुत नामों से हम इंगित करते हैं। कभी माया कह देते हैं, कभी शैतान कह देते हैं, कभी अविद्या, कभी अहंकार कह देते हैं। और चूँकि हमें ये लगता है कि वो हमारा चैन चुरा ले गया है हमसे, तो हम तमाम तरह की विधियाँ ईजाद करते हैं। माया को दुश्मन जानते हैं, अहंकार मिटाने की बात करते हैं, अहंकार को मौत देने की बात करते हैं।

और ये बड़ी विचित्र बात है, आदमी सदा से माया को अपना दुश्मन जानकर माया का दुश्मन रहा है। आदमी सदा से अहंकार को जड़-मूल से उखाड़ने में तत्पर रहा है। पर माया और अहंता तो वैसे-के-वैसे हैं। ज़रूर कोई भूल हो रही है। कबीर साहब उसी भूल की ओर इशारा कर रहे हैं। समझेंगे थोड़ा।

जब तुम कह रहे हो कि अहंकार तुम्हारी शान्ति चुरा ले जाता है तो तुम्हारी मान्यता कुछ ऐसी है कि शान्ति तो तुम्हारी

थी ही, शान्ति कोई ऐसी वस्तु थी जो तुम्हें उपलब्ध थी ही और फिर कोई आया चोर, तुम्हारी चीज़ तुमसे उठाकर, चुराकर ले गया। पर क्या वो उपलब्ध थी? नहीं।

शान्ति स्वभाव है, ये बात ज़रा दूर की है। इतनी दूर की है कि मैं कहूँगा कि ये बात किताबी है। पास की बात तो ये है कि हमें अशान्ति से ही बड़ा मोह है। पैदा ही वो जीव होता है जो अशान्त है। अशान्ति उसकी पहचान है।

अशान्ति उसकी?

प्र: पहचान है।

आचार्य: पहचान है। तो तुम कैसे कह रहे हो कि माया तुम्हारी वस्तु चुरा ले गयी? शान्ति तुम्हारी थी कब जो कोई चुरा ले जाए? जिसने जन्म लिया, उसका नाम ही था अशान्ति। अशान्ति ने ही जन्म लिया और दावा तुम्हारा ये है कि माया तुम्हारी शान्ति चुरा ले गयी। बताओ वो शान्ति तुम्हारी थी कब?

तुम एक ऐसी चीज़ पर स्वामित्व बता रहे हो, दावा दिखा रहे हो, जिसके तुम कभी आस-पास नहीं भटके, जिससे तुम्हारा कोई लेना-देना कभी नहीं था। माया का तो धन्यवाद दो कि उसने तुमको बता दिया कि तुम कितने अशान्त हो।

कोई तुम्हें गुस्सा दिलाता है और तुम्हें गुस्सा आ जाता है तो तुम कहते हो, 'ल्यो! माया का हमला हो गया।' कुछ ऐसा प्रदर्शित कर रहे हो जैसे कि तुम शान्त थे और किसी बाहर वाले ने आकर तुम पर धावा बोल दिया, अशान्ति ने तुम पर आक्रमण कर दिया।

नहीं, माया तो उपकार कर रही है तुमपर। देखोगे तो कहोगे कि दोस्त है। वो तुमको दिखा रही है कि कितनी अशान्ति तुममें भरी ही हुई है। वो कुछ नया न तुम्हें दे रही है, न कुछ तुम्हारा वो तुमसे छीन रही है। तुम्हारी जो वस्तुस्थिति है, जो हक़ीक़त है, उसी से तुम्हें वो अवगत करा रही है।

ज़रा ज़ोर की हवा चलती है और कमज़ोर पेड़ गिर जाता है। हवा का क्या दोष! हाँ, हवा नहीं चलती तो कभी किसी को पता नहीं चलता कि तना खोखला था। बाहर से तो तना सुदृढ़ ही दिख रहा था। माया हवा है। हवा चलती है तो पुराने, कमज़ोर, बीमार, बूढ़े पत्ते गिर जाते हैं। हरे पत्तों का क्या बिगड़ता है! और गिरते हैं पुराने पत्ते तो पेड़ का भला ही होता है।

कबीर साहब कह रहे हैं, "मेरा चोर मुझको मिलै, सरबस डारूँ वार।"

पहली बात तो, जिसको तुम माया इत्यादि कहकर इंगित करते हो, वो एहसान करती है तुमपर, वो तुम्हें बता देती है कि हो कौन तुम। अन्यथा तुम किताबी ब्रह्मवाक्य ही रटते रह जाते। तुम इसी आनन्द में लिप्त रहे आते कि ब्रह्म हूँ मैं, पूर्ण हूँ मैं!

जब वार होता है माया का, तो पता चलता है कि कौन हूँ, मामला कितने पानी में है। सब पोल खुल जाती है। पोल जब खुल जाती है, तब तुम ये नहीं कहते कि कमज़ोरी मेरे भीतर थी। तब तुम कहते हो, 'बाहर से हमला हुआ, मेरे साथ धोखा हुआ। बाहर से चोर आया, मेरा चैन चुरा ले गया।'

बात आ रही है समझ में?

"मेरा चोर मुझको मिलै, सरबस डारूँ वार।"

इस चोर के प्रति दो वजहों से कृतज्ञता है। पहली वजह तो ये कि ये न होता तो मुझे आईना कौन दिखाता। और दूसरी बात ये कि ये चोर पलता ही अकृतज्ञता पर है, ये चोर पलता ही शिकायतों पर है। ये चोर हमला ही उनपर करता है जिनके भीतर भरी होती हैं शिकायतें।

तुम्हारे भीतर अगर किसी के प्रति भी शिकायत भरी है, तुम शिकार हो जाओगे। और तुम अहोभाव से, कृतज्ञता से ओत-प्रोत हो, ये दर्शाने का इससे अच्छा तरीक़ा क्या हो सकता है कि जो तुमपर वार करने आये, तुम उसके प्रति भी कृतज्ञ रहे आओ।

माया तुमपर हमला करे — तुम्हारे अनुसार, माया तुम पर हमला करे — और तुम झींकने लग जाओ, तुम लड़ने लग जाओ, तुम विरोध करने लग जाओ, तुम शिकायत पर उतर जाओ, तुम अपना भाग्य कोसने लग जाओ तो तुमने यही दर्शाया कि वो हमला जायज़ था। क्योंकि माया का हमला तो कमज़ोरों पर ही होता है और कमज़ोर लोग ही शिकायतों में बड़ा रस लेते हैं। 'ये बुरा, ये बोला; इसने ऐसा कर दिया; वहाँ पर सब पाप है, उपद्रव है, ग़लत है।'

बात समझ में आ रही है?

तुम्हारी आंतरिक अपूर्णता है जिसके कारण बाहर से आये प्रभावों का शिकार बन जाते हो, वरना प्रभावों में क्या दम था!

चोरी कोई बाहर वाला आकर नहीं कर रहा है, चोरी हो चुकी है। चोरी हुई थी तभी तो तुम्हारा जन्म हुआ था, चोरी हुई थी तभी तो कुछ कमी है। उसी कमी का नाम है अपूर्णता। उसी कमी का नाम है अपूर्णता।

जब चोरी हो जाती है तो कुछ कमी हो जाती है न। कुछ चोरी हो गया, कुछ छूट गया, कुछ बाक़ी रह गया, कुछ कमी है; उसी का नाम है अपूर्णता। अपूर्णता भीतर बैठी हुई है। उसको भरो, उसको पूर्णता दो। लड़कर कोई फ़ायदा नहीं होगा।

अपूर्णता के जितने भी चिह्न तुम्हें दिखायी देते हों, उनके प्रति कृतज्ञ रहो कि पता तो चला कि भीतर कितना बड़ा छेद था। जितनी बार दिखायी दे कि थक गये, कि मन ख़राब कर लिया, कि रोने-झींकने लगे, शिकायतों पर उतर आये, मन में द्वेष उठने लगा, हिंसा उठी, संशय उठा, श्रद्धा घटी, उतनी बार कहना, 'धन्यवाद! पता तो चला कि भीतर क्या पनप रहा था।'

भूलकर भी स्थितियों को दोष मत देना। स्थितियाँ तुम्हारे भीतर जो था बस उसको प्रदर्शित कर देती हैं। स्थितियाँ तुमको बस आईना दिखा देती हैं। कभी न कहना कि घटना ऐसी घटी, माहौल ऐसा था कि हम आपा खो बैठे। कभी न कहना कि दूसरा है ही इतना बुरा कि तुम्हें उसपर घृणा है।

घृणा जिसके भीतर नहीं होगी उसके भीतर किसी बाहर वाले की उपस्थिति से अचानक नहीं उठ जाएगी। किसी को देखकर के अगर तुम्हें घृणा उठती है तो इसका मतलब तुम भीतर अपने घृणा लिये घूम ही रहे हो। छुपी हुई थी, कोई आया, उसकी उपस्थिति में प्रकट हो गयी, सामने आ गयी। इसका अर्थ ये नहीं है कि उसने तुममें घृणा का संचार कर दिया। धन्यवाद दो। धन्यवाद दो, और ये धन्यवाद ही है जो भीतर के खालीपन को भर डालेगा। ये अनुग्रह ही है जो भीतर की सारी कमियाँ पूरी कर डालेगा।

लड़ने मत लग जाना! मारने मत लग जाना!

जो मारने को उतारू है, वही तो सता रहा है तुमको। वो नहीं सता रहा जिसको तुम मार रहे हो। जिसको तुम मार रहे हो, वो नहीं सता रहा तुमको। जिसके प्रति तुममें घृणा और वैमनस्य है, वो नहीं सता रहा तुमको। वो जो तुम्हारे भीतर बैठा है और मारने पर उतारू है, वो सता रहा है तुम्हें। ये जो मारने वाला है, अगर तुम इसको मारने लग गये तो तुमने वही किया जो मारने वाला कर रहा था। बात बनेगी नहीं।

ये मारने वाला अधूरेपन से ग्रस्त है, इसे पूरापन दो। पूरेपन की पहचान ये होती है कि जो पूरा हो गया, उसे और नहीं चाहिए। जो अधूरा है, उसे अभी और चाहिए। तो वो क्या और इकट्ठा करता है? तमाम तरह की धारणाएँ, विचार, राग-द्वेष, मोह, शक, संशय।

जो अधूरा है, उसी के पास बहुत सारी मानसिक सामग्री मिलेगी। जो पूरा है, उसके पास कुछ नहीं मिलेगा। क्यों नहीं मिलेगा उसके पास कुछ? क्योंकि पूरे में कुछ जोड़ोगे कैसे, वो तो पूरा है।

“सरबस डारूँ वार।” न्यौछावर करने के लिए पूरापन चाहिए, पकड़कर रखने के लिए अधूरापन चाहिए। जिसके पास पूरापन है, मात्र वही है जो न्यौछावर कर सकता है। जो अधूरा है वो न्यौछावर कर ही नहीं पाएगा। वो तो अधूरेपन की भावना से ग्रस्त है, पकड़कर रखेगा। मुट्ठी उसकी भिंची हुई रहेगी।

बात समझ रहे हो?

हर घटना जिसको तुमने अपने जीवन पर एक दाग की तरह लिया है, वो वास्तव में वरदान थी तुम्हारे लिए। वो घटना न घटती तो कभी तुम्हें पता न चलता कि भीतर कितना कचरा भरा हुआ है। और उस कचरे से मुक्त होने का तरीक़ा एक ही है — देख लो कि तुम्हें कचरे की ज़रूरत ही नहीं है। क्यों? क्योंकि ज़रूरतों से आगे हो तुम, भरपूर और पूरे हो तुम।

ज़रूरत किसको होती है? जिसे कमी होती है। जब भी कहोगे कि मुझे ज़रूरत है, पूरापन नहीं ला पाओगे, क्योंकि पूरापन अधूरेपन में जोड़ा नहीं जा सकता। अधूरे में क्या जोड़ा जा सकता है जो अधूरे को पूरा करेगा? कुछ अधूरा ही। अधूरे में कुछ अधूरा ही जुड़ेगा जो अधूरे को पूरा करेगा।

तो जब भी तुम अपनेआप को अधूरा मानते हो, अपनेआप में कुछ व्यर्थ, कुछ कचरा ही जोड़ लेते हो। उस सबको न्यौछावर करो, उस सबको छोड़ो।

आ रही है बात समझ में?

अहंकार प्यासा है सत्य के लिए, और अहंकार ही एकमात्र अपना ज़रिया है सत्य को पाने का। इगो को लोग घमंड से जोड़ देते हैं, प्राइड से जोड़ देते हैं, जबकि उसके पास लाचारगी है। वो किस बात पर गर्वित अनुभव करेगा, वो तो खाली-खाली सा, भिखारी सा है। उसे किस बात पर घमंड होगा! पर मजबूर को लोग मग़रूर बोल देते हैं।

अपने बारे में जो कुछ भी दिखे, उसको छुपा मत जाओ, उसको नकार मत दो, उसको लेकर के बुरा मत मान जाओ। यही न उम्मीद करते रहो कि अपने बारे में सब अच्छा-ही-अच्छा पता चलेगा। जितनी अपनी गन्दगी प्रकट होती जाए, तुम उतने कृतज्ञ रहो। तुम कहो, ‘भला हुआ ये पता चला! भला हुआ ऐसी घटना घटी जिसमें भीतर की

सारी कालिमा प्रकट हो गयी। वो घटना न घटती तो कहाँ से आती वो कालिमा!'

गुरुओं ने तो कई बार ऐसी घटनाएँ आयोजित करवायी हैं जहाँ शिष्य के भीतर का भय या क्रोध या लोभ सामने आये। वो घटना आयोजित न करवायी जाए तो शिष्य को कैसे पता चलेगा कि भीतर लालच या डर या शंका कितनी बैठी हुई थी।

बात समझ रहे हो?

जो तुम्हें सताता है वही तुम्हारी मुक्ति का साधन भी है। वहीं पर देखना। जब कुछ बुरा लगे तो अच्छे की तलाश में मत निकल पड़ना, जो बुरा लग रहा है उसी में प्रवेश कर जाना। वो तुम्हें बुरा लग ही इसलिए रहा है ताकि उसपर तुम्हारा ध्यान जा सके।

पर हम बड़े खिलाड़ी लोग हैं न! जब कुछ बुरा लगता है तो हम उसकी ओर पीठ कर लेते हैं, हम दूसरी दिशा चल देते हैं। जैसे घर के एक कमरे से बदबू उठती हो तो आप कहो, 'छोड़ो, कहीं और जाकर बैठ जाते हैं।' भूल ही जाते हो कि वो कमरा आप ही के घर का है, कहाँ तक भागोगे? वो दुर्गंध इसलिए है ताकि वो कमरा साफ़ हो सके।

आ रही है बात समझ में?

प्र: अगर बहुत समय तक कोई भी अच्छी ख़बर न आये, तो? जैसा आपने कहा कि जब कोई ग़लत ख़बर आये तो देखते रहो।

आचार्य: तो ये बहुत अच्छी बात है कि बहुत समय तक ग़लत-ही-ग़लत ख़बर आ रही है। सोचो कि अगर बहुत कुछ ग़लत हो और ख़बर अच्छी आ रही हो, तो? जल्दी बताओ!

बीमार हो तुम, बहुत बीमार हो। और दो साल से प्रतिमाह तुम्हारी मेडिकल रिपोर्ट बता रही है कि ठीक हो तुम। मारे जाओगे। बीमारी गहरा रही है और ख़बर अभी अच्छी ही आ रही है। बीमारी गहराती जा रही है और ख़बर यही बता रही है कि अभी तो सब?

प्र: ठीक है।

आचार्य: ठीक है। और कोई ये न कहे कि बीमारी तो हमें है नहीं। मेरा मुँह खुलवाओगे तो मैं कहूँगा — बेटा, बीमारी ही पैदा होती है। जो पैदा हुआ है, वही बीमार है। बीमार तो सब हो। तो बहुत भली बात है सबके लिए कि तुम्हें बुरी-

ही-बुरी ख़बर आयें, क्योंकि जो पैदा हुआ है वो बुरी ही हालत में पैदा हुआ है। जब बुरी हालत में पैदा हुआ है तो उसे उसकी बुरी हालत की ख़बर आनी ज़रूरी है। बुरी हालत अगर छिपी रह गयी तो बुराई और बुरी हो जाएगी।

कोई न कहे कि हमें स्थितियों ने बुरा बना दिया। इस बात पर बिलकुल ध्यान दे लो। कोई न कहे कि हालात ऐसे थे कि हम बुरे हो गये, कोई न कहे कि माहौल ऐसा था कि हमें बुरा बर्ताव करना पड़ा। बुरे तो हम हैं ही, हम पैदाइशी बुरे हैं।

कभी मैं कहता हूँ कि बच्चा वृत्ति साथ लेकर पैदा होता है और कभी और साफ़ बोलना होता है तो कहता हूँ, 'वृत्ति ही बच्चा बनकर पैदा होती है।' जो मूल अपूर्णता की वृत्ति होती है, जीव-वृत्ति होती है, अहम्-वृत्ति होती है, वही तो गर्भ से जन्म लेती है। बीमारी का ही तो जन्म होता है।

अब ये जो बीमारी जन्मी है, ये चाहती है कि मुझे सब भली-भली ख़बरें आयें। ये अपनेआप को ही धोखा देना चाहती है। बीमारी का ही लक्षण है। बीमारी तो ये चाहेगी ही।

स्वास्थ्य चाहेगा कि उसको सच्ची ख़बर बतायी जाए। सच्चाई का सम्बन्ध तो स्वास्थ्य से है। अगर तुम स्वस्थ होते तो तुमको बहुत भला लगता कि किसी ने ईमानदारी से हमें हक़ीक़त बता दी। पर चूँकि तुम बीमार हो इसीलिए तुम चाहते हो कि तुम्हारी बीमारी छुपी रहे। ये बीमारी ऐसी है कि ये स्वयं को छुपाना चाहती है। बीमारी को छुपाना ही तो बीमारी है तुम्हारी। जो बीमारी को खुलकर प्रकट करने लग गया, समझ लो स्वास्थ्य की ओर बढ़ने लग गया।

पर हमें तो अगर बीमारी दिखती है तो या तो हम उसे अनदेखा कर देते हैं या फिर किसी दूसरे पर दोषारोपण कर देते हैं। 'मैं बुरा आदमी नहीं हूँ, पर उस आदमी की शक्ल ही इतनी मनहूस है कि मुझे क्रोध आ गया। वरना क्रोध? साहब, क्रोध तो हमें छूता ही नहीं!' तो अगर हमें गुस्सा भी आ गया तो ग़लती दूसरे की है। क्रोध भी आ गया हमें, तो ग़लती दूसरे की है।

सुनते नहीं हो बलात्कारियों के वक्तव्य! 'हम थोड़े ही बुरे हैं, हम तो बड़े ही संस्कारी बल्कि कहिए तो ब्रह्मचारी हैं, वो तो हमारे सामने उत्तेजक वस्त्र पहनकर आ गयी तो हम आपा खो बैठे। हमारी कोई ग़लती थोड़े ही है। आप बता रहे हैं हम बलात्कारी हैं, हम बता रहे हैं हम ब्रह्मचारी हैं। हमने अगर बलात्कार भी किया, तो ग़लती उसकी जिसका शोषण हुआ। तू क्यों आयी ऐसे हमारे सामने?'

बीमार की बीमारी ही यही कि उसे मानना ही नहीं है कि वो बीमार है। वो मानेगा ही नहीं कि वो बलात्कार का बीज उसके भीतर छुपा हुआ था। ये स्थिति न मिलती तो किसी दूसरी स्थिति में अंकुर फूटता।

समझ रहे हो?

बुरी ख़बर आये, अच्छी बात। बुरी-ही-बुरी ख़बर आये, बहुत अच्छी बात।

कैंसर के रोगियों को जानते हो ख़तरा क्या रहता है?

एक बार उनकी चिकित्सा हुई, कैंसर की जितनी कोशिकाएँ थीं सब नष्ट कर दी गयीं। लेकिन दो-चार भी अगर कोशिकाएँ छूट गयीं कैंसर की शरीर में, तो वो?

प्र: दोबारा पैदा हो जाता है।

आचार्य: कैंसर दोबारा पैदा हो जाता है। और यही नहीं होगा फिर कि जिस जगह पर पहले आया था, वहीं होगा। वो कोशिकाएँ घूम-फिरकर शरीर में कहीं और भी पहुँच सकती हैं। तो अच्छा है कि बुरी ख़बर आ जाये। अच्छा है कि तुम्हें बता दिया जाए कि अभी कुछ कोशिकाएँ बाक़ी हैं। अगर बीमारी बाक़ी थी और उसके बावजूद अच्छी ख़बर आ गयी, तो तुम मरे। तुम तो प्रार्थना यही करो कि बुरी-बुरी ख़बरें आया करें।

हमें अपनी उज्ज्वल छवि देखने की बड़ी इच्छा होती है न! वो भी इच्छा क्यों होती है? क्योंकि किताबों में पढ़ लिया है कि बड़े-बड़े लोग हुए हैं और वो उज्ज्वल-ही-उज्ज्वल थे। उनके धवल वस्त्रों पर कहीं कोई दाग नहीं। वहाँ बुराई का नाम-ओ-निशान नहीं। और यहाँ आचार्य जी बता रहे हैं कि तुम्हारे बारे में जितनी बुरी ख़बर आये, उतना अच्छा। तो ज़रा निराशा होती है।

हमें लगता है कि फिर हम वैसे कब बनेंगे। अगर हमारे बारे में सब बुरी-ही-बुरी ख़बर आती रहेंगी, लगातार यही प्रदर्शित होता रहेगा कि अभी हममें ये भी दोष है, अभी ये भी विकार है, अभी भीतर ये भी अवगुण छुपा हुआ है तो फिर हम विवेकानंद कब बनेंगे! बहुत जल्दी है। जल्दी ही ख़बर आ जाए कि सफ़ाई पूरी हो गयी, मामला तैयार है।

मामला ऐसे ही तैयार होता है। सारे दोष अनावृत हो जाएँ। एक-एक विकार उद्घाटित हो जाए, धूल का आख़िरी कण भी जो तुम्हारे मानस दर्पण पर पड़ा हो, वो चमकने लग जाए। दिखने लग जाए कि भीतर के दर्पण पर एक भी धूल का दाना बचा हुआ है, वो भी सामने आ जाए। यही प्रार्थना करो।

धोबी पटक-पटककर धोये, रेशे के भीतर भी जो सूक्ष्मतम गन्दगी बची हो, उसको भी निकाल दे। ऐसी नज़र हो धोबी की कि इतना सा भी दाग छूट न जाए। लोग कहें कि वस्त्र साफ़ है, वो कहे, 'नहीं, अभी भी गन्दा है, अभी और

पटका जाएगा, अभी और धुलेगा।'

प्र: सुनने में काव्य है, पर जब बीतती है तो...

आचार्य: वो तो इस पर निर्भर करता है कि तुम्हें पीटे जाने से ज़्यादा द्वेष है या साफ़ होने से ज़्यादा प्रेम है। दोनों घटनाएँ एक साथ घट रही हैं। तुम्हारे दोष निकाले जा रहे हैं, तुम्हारी खोट निकाली जा रही है, तुम पिट रहे हो; बुरा तो लगता है। लेकिन तुम साफ़ भी हो रहे हो, आनन्द भी आता है। अब तुम देख लो कि तुम्हें उस आनन्द से ज़्यादा प्रेम है या पिटने से ज़्यादा रोष है।

हम, भाई, बीमार लोग हैं। बीमारी ही पैदा होती है। तो अधिकांशत: यही देखा जाता है कि हमें पिटना बड़ा बुरा लगता है। कपड़ा चिल्लाकर बोलता है, 'अरे! फाड़ ही डालोगे क्या?' (श्रोतागण हँसते हैं)

'सफ़ाई तो होगी कि नहीं होगी, नहीं पता, पर हम नहीं बचेंगे। तुम्हारे उपायों से जान जाएगी हमारी। पक्का है, मौत होगी।'

अब तुम देख लो तुमको ज़िन्दगी ज़्यादा पसन्द है या मुक्ति। लेकिन बीमार आदमी को तो हर वक़्त यही ख़याल आता है कि काश! ज़िन्दगी बची रहे।

तो क्या चाहिए भाई?

पिटना कम बुरा लगेगा अगर ये उम्मीद त्याग दो कि आदर्श जीवन वो है जिसमें पिटाई नहीं होती। तुम्हारे मन में बड़ी एक आदर्श छवि बैठी हुई है कि कुछ लोग होते हैं, कोई ऐसी अवस्था होती है जब पिटना बन्द हो जाता है, जब बस निर्मलता प्रकाशित होती है चारों तरफ़। तुम वो ख़याल ही छोड़ दो। देहधारी को वो ख़याल रखने का कोई हक़ नहीं है।

देहधारी को अगर ख़याल रखना है तो बस इस बात का रखे कि अभी दाग कहाँ-कहाँ बाक़ी है। दाग के बाद क्या है, दाग के आगे क्या है, इसकी कल्पना मत करो। तीर-तुक्का मत लगाओ।

पर पढ़ लेते हो न! फ़लाने ऋषि थे, फ़लाने मुनि थे, फ़लाने सज्जन थे, देवता भी आकर उनके चरण स्पर्श करते थे। तुम कहते हो, 'एक तो वो लोग जिनका इतना आदर कि देवता भी उनके चरण स्पर्श करते थे। और हमें बताया जा रहा है कि तुम्हें पटक-पटक के धोया जाएगा और तब भी तुम्हारी मैल निकलेगी नहीं तो तुम्हें फाड़ा जाएगा। तो हमने ऐसा क्या गुनाह किया है भाई?'

तुम्हें समस्या पिटने से नहीं है। तुम्हारी सारी समस्या ये है कि वो कहानियाँ तुम्हारे ज़ेहन में बैठ गयी हैं।

खेल सीधा है — दाग देखो, दाग धोओ; फिर? दाग देखो, दाग धोओ। फिर? दाग देखो, दाग धोओ। फिर? दाग देखो, दाग धोओ।

‘गुरुदेव इस सबका अन्त कहाँ है? दागों के आगे क्या है?’

भक्क! और धोओ। (श्रोतागण हँसते हैं)

ये पूछना ही कि दागों के आगे क्या है, बड़ी दागदार बात है। मत पूछो कि दागों के आगे क्या है। तुम्हें बस इतना अधिकार है कि दाग देखो, दाग धोओ। उसके आगे कल्पना करो ही मत। तनाव आ गया। कह रहे हैं, ‘क्या इसीलिए पैदा हुए थे?’ तुम कह रहे हो, ‘क्या इसीलिए पैदा हुए थे?’ मैं कह रहा हूँ, ‘पैदा ही क्यों हुए?’

सारा खेल ही इसी बात का है कि उस बिन्दु पर पहुँच जाओ जिसके बाद पैदा नहीं हुआ जाता दोबारा।

प्र: आज जब आपने रूमाल माँगा, तो सबसे पहले जो विचार आया वो था कि मेरा रूमाल दागदार है, आचार्य जी के हाथ में देने से दाग लग जाएगा।

आचार्य: अरे राम जी!

प्र: मैंने माथा पोंछा है इससे, नाक पोंछा है। आचार्य जी, सबसे पहले वो झिझक मेरे मन में आयी।

आचार्य: 'लागा चुनरी में दाग!' लागा रूमाल में दाग, दिखाऊँ कैसे!

रूमाल नहीं था, वो देह थी। हम ऐसे ही हैं। जैसे रूमाल नहीं छोड़ा गया, वैसे देह नहीं छोड़ी जाती। दाग दोनों में है।

प्र: देखने और धुलने के बीच में क्या होता है?

आचार्य: कुछ नहीं। देखने और धुलने के बीच में जो कुछ है, वो धुलने के विरुद्ध षड्यंत्र है। अगर देखते ही धुलाई नहीं हुई तो फिर धुलाई नहीं होगी। जिसने भी कहा कि दिख अभी गया है, धोएँगे कल, वो बेईमानी कर रहा है।

उसका धोने का इरादा ही नहीं है। देखना और धुलना होगा तो तुरन्त होगा। जो कोई कहे, 'मैं जान तो गया हूँ, अमल हो रहा है, हो रहा है, पंचवर्षीय योजना है, धीरे-धीरे बढ़ रहा है', समझना बेईमान आदमी है।

प्र: ग्रेस पीरियड (मोहलत) भी नहीं है।

आचार्य: हाँ जी! दुनिया भरी हुई है ऐसे डिसग्रेसफुल (अपमानजनक) लोगों से। वो सब ग्रेस पीरियड पर ही चल रहे हैं। साधकों का यही तो फ़साना है पूरा, 'जानते हम सब हैं, होने कुछ नहीं देते।' जैसे हॉस्टल में रहने वाला कोई लौंडा। जानता भलीभाँति है कि कच्छा हफ़्तेभर से नहीं बदला, पहन आठवें दिन भी वही लेता है।

दाग अच्छे हैं!

प्र: अगर हम दागों की तरफ़ से उठकर सफ़ाई की तरफ़ आ जाएँ, तो जब दाग दिखेगा तो दुख नहीं होगा।

आचार्य: बढ़िया बात! सफ़ाई इसीलिए तो नहीं हो पाती है। तुम अपनेआप को पहले ही इतना साफ़ मानते हो कि अब जब दाग दिखता है तो बुरा लगता है।

मैं कहता हूँ कि तुम विपरीत ध्रुव से शुरुआत करो। जब तुम पहले ही मानकर बैठे होते हो कि मैं तो बड़ा साफ़-सफ़ा आदमी हूँ, और फिर जब गन्दगी दिखेगी तो कैसा लगेगा? कैसा लगेगा? बुरा लगेगा। तुम उल्टी तरफ़ से शुरुआत करो, तुम कहो, 'पैदा हुआ हूँ तो गन्दा ही होऊँगा। अगर पैदा हुआ हूँ तो गन्दा हूँ।'

गन्दगी से ही भ्रूण की शुरुआत हुई थी और गर्भ से भी जब बाहर आया तो गन्दगी में ही लोट रहा था। पैदा हुआ हूँ तो गन्दा ही होऊँगा। तो अब अगर गन्दगी दिख गयी तो कौनसी ताज्जुब की बात! गंदे तो हम हैं ही। अब गन्दगी दिखेगी तो ठीक है, दिख गयी गन्दगी। 'चलो भाई, साफ़ करो!' और दिख गयी? 'चलो भाई, साफ़ करो!' और दिख गयी? 'चलो भाई, साफ़ करो!'

पर हमारे मन में हमारी बड़ी उज्ज्वल, निर्मल छवि है, आहाहा! फिर कोई गन्दगी दिखा देता है तो कहते हैं, 'तुझे तो सिर्फ़ मेरी गन्दगी पता है।' जो मेरी गन्दगी बताये सो गन्दा।

मुझे तो कभी-कभी बड़ा रस आता है। लोग बैठे होते हैं, और मैं छेड़ूँगा, खोट बताऊँगा, गन्दगी दिखाऊँगा। और थोड़ी देर पहले बता रहे होते हैं, 'तस्मै श्री गुरुवे नम:', और जहाँ मैं कोचना शुरू करता हूँ, तहाँ चेहरे से. . .। अब कह कुछ नहीं पाते, सवाल नैतिकता का है, पर आँखें ज़रा आग्नेय हो जाती हैं। क्या करें!

मात्र जो श्रोता है, और जो शिष्य है, श्रावक है, उनमें इसी मूल भेद से पहचान कर लेना। जो बस यूँही कौतूहलवश, मनोरंजन की ख़ातिर सुनने बैठ गया है, जैसे ही उसके दोष निकाले जाएँगे, उसका मन खट्टा होगा। वो बुरा मानेगा।

गुरु के लिए बहुत आसान है परख करना। दोष निकालो, जिसको बुरा लग जाए, जान लो कि वो शिष्य होने के क़ाबिल ही नहीं। और जो वास्तव में मुक्ति का अभिलाषी है, जो वास्तव में गुरु के पास मुमुक्षा से प्रेरित होकर आया है, ज्यों ही उसके दोष उद्‌घाटित किये जाएँगे, वो और नमित हो जाएगा, एहसान मानेगा, झुक जाएगा। वो कहेगा, ‘इसलिए तो आये थे। बताइए कि अभी कहाँ-कहाँ दाग बाक़ी हैं। और बताने से आगे जाकर आप अगर धो ही दें पटक-पटककर, तो क्या कहने! सोने पर सुहागा!’

ये मुश्किल होता है, आम श्रोता के लिए बड़ा मुश्किल होता है।

लोग तो सत्संग में भी ऐसे आते हैं जैसे गपशप करने। गपशप का क़ायदा ये होता है कि एक-दूसरे को आहत मत कर देना। होता है न? कुछ ऐसी बात न बोल देना जो दूसरे को बुरी लग जाए। ये गपशप का क़ायदा है।

गुरु के सानिध्य में बैठने का क़ायदा दूसरा है। वहाँ हाथ जोड़कर के विनती की जाती है कि बताओ, कहाँ-कहाँ दोष बाक़ी है, कहाँ-कहाँ दाग लगा है। और बताने से आगे जाकर अगर साफ़ भी कर दो तो सौभाग्य हमारा!

प्र२: मुक्ति क्या है?

आचार्य बन्धन क्या है? बन्धन न हो तो मुक्ति की बात कौन करेगा! बन्धन क्या है?

अब नहीं जवाब दोगे जब मैं पूछूँगा ‘बन्धन क्या है?’ क्योंकि मुक्ति तो एब्सोल्यूट होती है और बन्धन व्यक्तिगत होता है। वहाँ अपनी पोल खोलनी पड़ती है। मुक्त-मुक्त तो सारे जन एक से होते हैं, क्योंकि मुक्ति क्या होती है? खुले आकाश जैसी। आकाश में कोई भेद नहीं। पर बन्धन सबके अलग-अलग होते हैं। निजी बन्धन होते हैं सबके। तो मैं पूछूँगा, ‘बन्धन क्या है?’, तो नहीं बताओगे। कहोगे, ‘अरे, क्या घर की बात खुले में बताएँगे!’

तो जो कुछ तुम्हें बाँधकर रखे हो, उससे आज़ाद होना ही कहलाता है मुक्ति। बन्धनों का हटना ही मुक्ति है।

बन्धन क्या हैं, ये तुम जानो!

जो कुछ तुम्हें सीमित करता हो, वो बन्धन तुम्हारा। जो कुछ तुम्हारी उड़ान को रोकता हो, वो बन्धन तुम्हारा। जो कुछ

तुम्हें एक छोटे से दायरे में क़ैद रखता हो, वो बन्धन तुम्हारा। जो भी कुछ तुम्हारी अनन्तता के आड़े आता हो, वो बन्धन तुम्हारा। जो भी तुम्हें डर में रखे, वो बन्धन तुम्हारा। जिस भी रेखा का उल्लंघन करने में तुम्हारे पाँव काँपें, वो बन्धन तुम्हारा।

तो देखो कि बन्धन क्या हैं तुम्हारे, और फिर पूछो अपनेआप से कि क्या पा रहा हूँ मैं इन बन्धनों को बरकरार रखकर। हमें बेड़ियाँ कोई बाहर वाला थोड़े ही पहनाने आता है, उन्हें तो हम ख़ुद ही धारण करते हैं — आभूषण हैं हमारे।

बन्धनों से मुक्ति ऐसे ही मिलती है कि बन्धनों को छोड़ दिया जाए। नहीं कह रहा हूँ मैं कि बन्धनों को तोड़ दिया जाए। बन्धनों को कहूँगा यदि कि तोड़ दिया जाए, तो तुम्हें बहाना मिल जाएगा। तुम कहोगे कि अभी इतनी ताक़त नहीं हममें कि बन्धनों को तोड़ पायें।

बन्धनों को तोड़ना नहीं है। तुमने बाबा, पकड़ रखा है, बस छोड़ना है। क्या छोड़ने के लिए भी ताक़त चाहिए? छोड़ने के लिए तो ताक़त नहीं चाहिए। ताक़त तो बल्कि चाहिए पकड़ने के लिए।

बन्धनों को छोड़ देना ही मुक्ति है। तब तक नहीं छूटेंगे जब तक उनसे मुँह चुराओगे। बन्धनों के पास जाओ, उनको पकड़ने में तुम अपना कुछ तो हित देखते हो। ज़रा जिज्ञासा करो, ज़रा परख करो, ज़रा प्रयोग करो। जाँचो कि क्या इन बन्धनों के साथ मेरा कोई हित है। अगर हित हो तो बेशक पकड़े रहना। अगर तुम्हारी ईमानदार जाँच यही निष्कर्ष देती हो कि बन्धनों के साथ रहने में ही तुम्हारा हित है, तो मैं कह रहा हूँ, तुम बेशक बन्धनों को पकड़े रहो। लेकिन अगर तुम्हें साफ़ दिखायी देता हो कि बेवकूफ़ी कर रहे हो, अवसर गँवा रहे हो, जीवन और ऊर्जा व्यर्थ जा रहे हैं, तो छोड़ ही दो। यही मुक्ति है।

ज्ञान भी चाहिए मुक्ति के लिए और श्रद्धा भी। ज्ञान और भक्ति, दोनों न हों तो मुक्ति नहीं होगी। ज्ञान चाहिए ताकि बन्धनों के प्रति जिज्ञासा कर पाओ और श्रद्धा चाहिए ताकि उनको छोड़ पाओ।

बन्धन पकड़े रहने के पीछे एक तर्क़ ये होता है कि कम-से-कम कुछ तो है मुट्ठी में। अपने ही बन्धन पकड़ रखे हैं। पर मन तर्क क्या देता है? 'कम-से-कम मुट्ठी खाली तो नहीं है।' श्रद्धा चाहिए। श्रद्धा ही तुम्हें बताएगी कि जो पकड़ रखा है, छोड़ भी दोगे तो भी मौज में रहोगे। अभी से नहीं बताया जा सकता कि क्या होगा जब छोड़ दोगे, पर एक बात पक्की है, जो हालत अभी तुम्हारी है, जो भी होगा इससे तो बेहतर ही होगा।

प्र१: आचार्य जी, जो हमको पढ़ने को दिया गया यहाँ, उसमें ओशो की एक उक्ति है कि अहंकार का अस्तित्व नहीं है। जैसे अंधेरा प्रकाश की गैर-हाज़िरी है, तो आप अहंकार को क़ुर्बान नहीं कर सकते हैं। सारे बन्धन का कारण

शायद अहंकार ही है। पर अहंकार को छोड़ना, जो चीज़ अस्तित्व में ही नहीं है, उसको क़ुर्बान कैसे किया जाए? उसको कैसे छोड़ा जाए?

आचार्य: रूमाल तो दिया नहीं, कह रहे हो इगो (अहंकार) एग्ज़िस्ट (अस्तित्व) नहीं करती है। जैसे कोई खाँसे बार-बार और फिर बोले, 'मैं एग्ज़िस्ट नहीं करता।'

तुम अगर नहीं हो अस्तित्वमान, अगर नहीं है तुम्हारी हस्ती और एग्ज़िस्टेंस , तो खाँस कौन रहा है? अगर इगो नहीं है तो डर कौन रहा है? अगर अहम् नहीं है तो भय, लोभ, मद-मात्सर्य, शंका किसको हैं? या इनसे भी इनकार करते हो? भय है जीवन में न?

प्र१: जी।

आचार्य तो अहम् कैसे नहीं है? या ये कहोगे कि खाँसी तो है, पर खाँसने वाला कोई नहीं?

प्र१: मैं उनकी बात कर रहा था।

आचार्य: वो उन्होंने कहा। हमें तो बड़ी विनम्रतापूर्वक वो बयान करना चाहिए जो हमारी हक़ीक़त है। हमारी हक़ीक़त तो ये है कि हमारे पास अहम् के अलावा कुछ नहीं। बुद्ध पुरुषों को कहने दो कि अहम् धोखा है और झूठ है। हम तो दिन-रात अहम् में ही जीते हैं। तो हमारे लिए तो यही वक्तव्य सार्थक है कि मुझे तो यही पता है कि अहम् है और मात्र अहम् है।

तुम (ऊपर की और इशारा करते हुए) कहोगे कि आत्मा मात्र है और आत्मा के अतिरिक्त और कोई सत्य नहीं। लेकिन, ‘हे महापुरुष! मुझे तो अभी तुम यही कहने दो कि जिधर देखता हूँ उधर बस अहम् पसरा हुआ नज़र आता है। मेरी ज़िन्दगी में तो रोग है, वहम है, मृत्यु है, भय है।’ अहम् और किसको कहते हैं? या ये कहोगे कि वहम है, पर अहम् नहीं? गड़बड़ है बात। वहम तो है, तो अहम् भी होगा।

उन ऋषियों को उच्चारित करने दो, ‘अहम् ब्रह्मस्मि।’ वो कह सकते हैं कि मैं ब्रह्म मात्र हूँ, अहम् मिट गया। अहम् है ही नहीं, बचा क्या? मात्र ब्रह्म। उनको कहने दो। तुम कहोगे तो गड़बड़ हो जाएगी।

जो जहाँ है, वहीं पर अपनी हक़ीक़त का वर्णन करे। रोगी अगर कह देगा कि मुझे रोग ही नहीं, तो उपचार कैसा फिर! रोगी तो यही बोले कि हाँ, रोग है। और रोग है, इसका सबसे बड़ा प्रमाण क्या है? दुख है।

या तो ये कह दो कि दुख है ही नहीं। और अगर तुम ईमानदारी से कह सको कि दुख नहीं है, तो तत्क्षण तुम्हारा इलाज हो जाएगा। पर कह नहीं पाओगे कि दुख नहीं है। दुख तो तुम्हें अनुभव होता है। और दुख के साथ तो तुम्हारा बड़ा जुड़ाव है। जब दुख आ ईता है तो तुम कहते हो, 'दुख लग रहा है, दुख लग रहा है, दुख लग रहा है। मैं दुखी हूँ। मैं दुखी हूँ।' और अगले पल बोलते हो 'मैं ब्रह्म हूँ।' तो कौनसा ब्रह्म है भाई जो दुखी हो जाता है!

मत बोलो कि मैं ब्रह्म हूँ। जिन्होंने कहा, उन्हें बोलने का हक़ था। हमारा अभी नहीं है।

कहीं कोई अकेला, और उसकी अकेली लड़ाई

प्रश्नकर्ता: बार-बार कृष्णमूर्ति साहब ये कहते हैं कि कोई गुरु की आवश्यकता नहीं है।

आचार्य प्रशांत: हाँ, क्योंकि सब अपना ही है, ज़िम्मेदारी सारी अपनी है, तो बाहर वाले का फिर नाम भी लेने की तकलीफ़ क्यों करनी है। और जो गुरु है वह सर्वप्रथम आंतरिक है। मैं कह रहा हूँ, 'सर्वप्रथम आंतरिक है', कृष्णमूर्ति कह रहे हैं, 'मात्र आंतरिक है।' ठीक है? एकदम शुद्धतम बात उन्हीं की है, वो स्वीकार करिए। वो ठीक है, क्योंकि अगर अन्दर वाला सुनने को राज़ी हो गया तो दीवारें भी बोलती हैं, फिर पत्थर भी सिखाते हैं, फिर चिड़ियों का गीत भी गीता हो जाता है। तो बात तो अपनी रज़ामंदी की है, अपनी परिपक्वता कितनी है। उसके बाद सबकुछ सिखाने-ही-सिखाने लग जाएगा। फिर क्या हम किसी विशिष्ट सज्जन या विशिष्ट गुरु की तलाश करेंगे!

प्र: कृष्णमूर्ति साहब कहते हैं, "न तो ग्रन्थों की ज़रूरत है और न बाहर वाले गुरु की ज़रूरत है", तो वो क्या चीज़ है?

आचार्य: वो चाह रहे हैं सारी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लें आप। देखिए, वो जो कर रहे हैं वो काम थोड़ा मनोवैज्ञानिक है और वो करना ज़रूरी भी होता है। वो ये कह रहे हैं कि अगर थोड़ा भी यह कह दिया न, कि बाहर वाला तुम्हारे काम आ जाएगा तो तुम जाकर उसकी पीठ पर चढ़ जाते हो। और पीठ पर चढ़ने में भी कोई बुराई नहीं थी अगर वो तुम्हें अपनी पीठ पर लादकर के अमरपुर पहुँचा सकता तो। कोई तुम्हें पीठ पर लादकर अमरपुर नहीं पहुँचा सकता।

होगा बाहर वाला बहुत यशस्वी, जैसे साक्षात् कृष्ण खड़े हों, पर कृष्ण भी अर्जुन को अधिक-से-अधिक क्या कर पा रहे हैं?

प्र: बोल ही रहे हैं।

आचार्य: बोल ही पा रहे हैं। वो अब नहीं सुनने को राज़ी है। एक श्लोक में भी तो काम हो सकता था, पर सात-सौ श्लोकों तक मामला खिंच रहा है। और हम जानते हैं, हमको ग्रन्थ बताते हैं कि उसके बाद भी अर्जुन को पूरी बात समझ नहीं आयी थी।

तो कृष्णमूर्ति कह रहे हैं, 'एक बात बताओ भाई, जब ले-देकर के सारा मामला अपनी ही तैयारी का है तो हम बाहर वाले को बरख़ास्त क्यों न कर दें?' वो ये कह रहे हैं। और बड़ा मुश्किल होगा ये कहना कि कृष्णमूर्ति ग़लत कह रहे हैं क्योंकि उनकी बात को जैसे ही आपने ग़लत बोला, काम गैर-ज़िम्मेदारी का शुरू हो जाता है। उनकी बात को ग़लत बोलने का परिणाम क्या होगा, ये देखिए न। वो ये कह रहे हैं कि ग्रन्थ से भी बात नहीं बननी है, गुरु से भी बात नहीं बननी है। ठीक है? और वो बात जो कह रहे हैं, उन्होंने कोई पहली बार तो नहीं कही। "पोथी पढ़-पढ़ जग मुआ, पंडित हुआ ना कोय।" ये बात तो कब की बोली जा चुकी है, कि ग्रन्थों से बात बनती नहीं है। इतने घूम रहे हैं पंडित, ये पोथियों में ही पच मरे हैं; इनको क्या मिल गया!

तो वही बात कृष्णमूर्ति कह रहे हैं कि देखो तुमको समझना तो ख़ुद ही है, जानना भी ख़ुद ही है। ये भाव कि कोई बाहर वाला चाहे वो शरीर रूप में या ग्रन्थ रूप में आकर के कुछ कर जाएगा, ऐसा होगा नहीं। ज़िन्दगी की लड़ाई दूसरों के कंधे पर चढ़कर नहीं लड़ी जाती, भले ही वो कंधा स्वयं श्रीकृष्ण का क्यों न हो। वो भी अर्जुन को अपने ऊपर बैठा के नहीं जिता पाएँगे महाभारत। तो कृष्णमूर्ति उसी बात को एकदम एक्स्ट्रीम (अंतिम सिरा) तक ले जाते हैं। वो कहते हैं, 'फिर करना क्या है, फिर ख़ुद ही क्यों नहीं ध्यान लगाते? जीवन को स्वयं ही क्यों नहीं देखते?'

मैं उसमें उनसे थोड़ी सी भिन्न बात कहा करता हूँ, जो भिन्न है नहीं वास्तव में। मैं कहता हूँ, जैसे मुझे समस्त जीवन का अवलोकन करना है, मैं वैसे ही भगवद्गीता का भी करूँगा। मैं कहता हूँ, जगत को तो मुझे उसकी पूर्णता में जानना है न, तो जब मैं एक बिजली के तार पर बैठी हुई चिड़िया को निष्पक्ष भाव से निहार सकता हूँ तो गीता ने मेरा क्या बिगाड़ा है कि मैं गीता को उसी भाव से नहीं पढ़ सकता। जब पूरे जगत से ही मुझे सीखना है तो मैं ये नहीं कह रहा कि मैं गीता के अलावा किसी और से नहीं सीखूँगा, पर मैं ये भी क्यों कह दूँ कि मैं सबसे, औरों से सीखूँगा, बस गीता से नहीं सीखूँगा! जैसे मुझे सबसे सीखना है वैसे मुझे श्रीकृष्ण से भी सीखना है, मैं ये कहता हूँ।

तो एक अति हो गयी जब आप कहते हो कि तुम्हें कुछ नहीं करना है, तेरा राम जी करेंगे बेड़ा पार। ये एक अति है। समझ रहे हैं? ये अति पूरी गैर-ज़िम्मेदारी की है, कि तुम्हें कुछ नहीं करना है, वो आकर के तुम्हें तार देंगे। दूसरी

अति वो है जो कृष्णमूर्ति कहा करते हैं। कृष्णमूर्ति कहते हैं, 'सबकुछ स्वयं तुम्हें ही करना है।' और मैं इससे सहमत भी हूँ।

तो मैं उसी बात को थोड़ा और विस्तार में बोलता हूँ। मैं बोलता हूँ, जब तुम्हें ही स्वयं अपना काम करना है और सीखना तुमको जगत से ही है, तो जगत में तो गीता भी आती है न, जगत में तो गीता भी आती है। मैं जा रहा हूँ एक राह पर और उस राह में अगर मदिरालय पड़ रहा है तो मैं उसको तो देख लूँ और समझ लूँ कि यहाँ क्या चल रहा है और मदिरालय के आगे देवालय पड़ रहा है तो उसको न देखूँ-समझूँ, ये कौनसा तर्क हुआ? तो मैं सबसे सुनूँगा, सबसे समझूँगा। और जैसे मैं सबसे समझता हूँ वैसे मैं साहब से भी समझ लेता हूँ, वैसे ही मैं सबसे समझ लेता हूँ। दूसरों को मैंने वर्जित नहीं कर दिया है, जो भी सिखाने आएगा, हम तो उसके आगे झुक जाएँगे।

कृष्णमूर्ति जिन दशकों में बोल रहे थे, पचास के दशक से लेकर अस्सी के दशक तक, सोचिए भारत में वो दशक कैसे थे। लोग क्या कर रहे थे? पाखंड है, अंधविश्वास है, रूढ़िवादिता है, किसी को कुछ समझना नहीं है। सबको बस जाकर के जय भगवान जी की, जय भगवान जी की करना है। और उसमें सब ये पंडित-पुरोहित जो हैं वो मेवा छान रहे हैं। ये सब चल रहा था। तो चूँकि ये जो पूरा दुर्व्यवहार था, ये एक अति पर था, तो इसको काटने के लिए कृष्णमूर्ति बिलकुल दूसरी अति की बात करते हैं। किसी भी महापुरुष की बात को उसके काल के संदर्भ में ही समझा जा सकता है न।

वो जो कह रहे हैं, वो समझिए किसलिए कह रहे हैं। वो भारत को देख रहे हैं, पूरे विश्व को भी देख रहे हैं। अभी आजकल लड़ाइयाँ कम हो रही हैं, जैसे रूस-यूक्रेन की हो गयी। नहीं तो इस शताब्दी में बड़ी लड़ाइयाँ कम ही हुई हैं। पर आप पचास के दशक से लेकर अस्सी के दशक देखें, और कृष्णमूर्ति के सामने तो विश्वयुद्ध भी हुआ था दूसरा। तो उस समय पर कोरिया-वियतनाम, क्यूबन क्राइसिस , ये सब उनके सामने चल रहा था, और ये लम्बी लड़ाइयाँ थीं। ठीक है? तो वो देख रहे हैं कि वार (युद्ध) किस वजह से हो रहा है, वो देख रहे हैं कि जगत में पाखंड कितना है।

भारत की ओर देख रहे हैं, ग़रीबी कितनी है, जाहिलियत कितनी है, अशिक्षा कितनी है। उसके बाद भी उल्टी-पुल्टी धार्मिकता में लोग समय लगाते हैं, पैसा लगाते हैं, बेवकूफ़ बनते हैं। तो उनको ये बोलना पड़ा कि आइ कम्प्लीटली रिजेक्ट ऑल अथॉरिटी, ऑल गुरुज़, ऑल स्क्रिप्चर्स; विच इज समथिंग दैट वन हैज़ टू एग्री विद (मैं सभी प्राधिकारियों को, सभी गुरुओं और ग्रन्थों को पूरी तरह से अस्वीकार करता हूँ, जिससे किसी को सहमत होना पड़ता है) । बिलकुल ठीक बात बोली उन्होंने।

प्र: एक चीज़ और है, जैसा कि आपने अभी-अभी कहा, जब थियोसॉफी वालों ने उनको कहा कि आप आइए वर्ल्ड

टीचर (विश्व गुरु) बनिए तो उन्होंने वो अस्वीकार कर दिया, कि *"ट्रुथ इज़ द पाथलेस लैंड"*। लेकिन उससे पहले ये है कि लीड विटर, एनी बेसेंट ने काफ़ी उनको साहित्यिक ग्रन्थ पढ़वाए।

आचार्य: हाँ, मेहनत करी थी।

प्र: लेकिन कृष्णमूर्ति साहब उसको भी अस्वीकार कर देते हैं, कि मैंने कुछ नहीं पढ़ा।

आचार्य: नहीं, वो संकेत दे रहे हैं। वो कह रहे हैं, मैं जो अब हो गया हूँ, मैं हूँ मौलिक। तो जो दूसरा 'मैं' था उसने पढ़ा होगा, इस 'मैं' ने नहीं पढ़ा है (हँसते हुए)। कृष्णमूर्ति साहब की लगभग पहली किताब थी, उसका आप जानते हैं क्या शीर्षक है? 'एट द फीट ऑफ द मास्टर' (मालिक के चरणों में)। वो कह रहे हैं कि मैं किसी गुरु में विश्वास नहीं रखता, और उनकी अपनी किताब का ही शीर्षक है *'एट द फीट ऑफ द मास्टर'*। छोटी सी, पतली सी किताब है। लेकिन उसमें उन्होंने अपना नाम कृष्णमूर्ति नहीं रखा है। आप देखेंगे कि इसका औथर (लेखक) कौन है, तो उसमें उन्होंने अपना नाम रखा है 'अल्सियोनी'।

तो उनका ये कहना था कि वो कोई और था जिसने सीखा और चूँकि उसने पूरा सीख लिया इसलिए अब मैं कोई और हूँ। ऐसे वो कह रहे हैं।

प्र: तो अहम् बदल गया। जिसने सीखा था वो अहम् दूसरा था।

आचार्य: जिसने सीखा था वो अहम् था, मैं आत्मा हूँ। और आत्मा किससे सीखेगी? आत्मा तो किसी से नहीं सीखती न। तो इसीलिए मैंने किसी से नहीं सीखा। वो ये कह रहे हैं। कह रहे हैं, जिसने सीखा था वो कोई और था। वो तो गया, सीखने के कारण ही वो विलुप्त हो गया। तो अब मैं तो कोई और हूँ न। तो मैंने कुछ नहीं पढ़ा, मैंने किसी से नहीं सीखा। मैं बिलकुल अपनी नयी, ओरिजनल (मौलिक) बात बोल रहा हूँ। ये बात भी ठीक है, कैसे कहें कि ठीक नहीं है, बिलकुल ठीक है।

प्र: लेकिन मैं अपने अनुभव से कहना चाह रहा हूँ, जैसे मैं काफ़ी मैं पढ़ता था, चाह भी थी कि कुछ सीख जाएँ, लेकिन वो स्पष्टता नहीं मिली जो आपके सानिध्य में मिली। तो वो वाली बात कि बाहर से हेल्प (मदद) नहीं आएगी, इसको थोड़ा स्पष्ट कीजिए।

आचार्य: आप बहुत प्रतिकूल परिस्थितियों में भी बने रहे हैं। मेरा श्रेय कम है, आपका ज़्यादा है। ठीक है? तो मैं कुछ नहीं कर सकता, मैं बहुत छोटी चीज़ हूँ। इतने लोग हैं जिन तक मेरी बात पहुँचती है, उसमें राई बराबर किसी को लाभ होता होगा। आपको अगर लाभ हुआ है तो श्रेय, क्रेडिट आपको जाता है, मुझे बहुत कम। और आप भलीभाँति

जानते हैं कि आपके लिए भी आसान नहीं था। और जैसी स्थितियाँ आपने देखी हैं वैसी स्थितियाँ कोई और व्यक्ति देखता तो उसके लिए बहुत आसान था पीछे चले जाना कि हालात ठीक नहीं हैं, मैं हट रहा हूँ।

तो जो भी कोई जानेगा-सीखेगा, ज़िम्मेदारी भी उसकी है और श्रेय भी उसी को है।

आपको पता है, अभी कोई दस-एक दिन हुए होंगे, इन्होंने (संस्था के सदस्यों ने) डेटा निकाला है कि पिछले नब्बे दिनों में ही साढ़े छः करोड़ लोगों ने यूट्यूब मात्र पर वीडियो देखे हैं हमारे, युनीक व्यूअर्स हैं। ये युनीक व्यूज़ नहीं हैं, व्यूअर्स हैं। सिर्फ़ पिछले तीन महीने में साढ़े छः करोड़ अलग-अलग लोगों ने वीडियो देखे हैं, उसमें से लाभ कितनों का हो गया? और ये सिर्फ़ तीन महीने का है, तो सालभर का कितना होगा सोच लीजिए। साढ़े-छः-करोड़ में से लाभ कितनों को हो गया?

जिसको लाभ हुआ है पूरा-पूरा क्रेडिट उसको ही जाता है। एक माली साढ़े-छः-करोड़ बीज बिखेर दे और उसमें से दस-पन्द्रह में फूल आ जाएँ, तो श्रेय माली को जाएगा? मैंने तो साढ़े-छः-करोड़ बीज बिखेरे थे, उसमें से कहीं दस-पन्द्रह में फूल आ गये तो मेरी क्या ख़ासियत है उसमें, है कुछ? बीज भी बहुत पुराना है, माली भी बहुत पुराना है। ख़ासियत तो उन फूलों की है जिन्होंने कहा हमें खिलना है।

प्र२: नमस्कार सर। जे कृष्णामूर्ति जी को पढ़ रहा था मैं। उनका बहुत एम्फेसिस (ज़ोर) 'वाट इज़' ('जो है') पर है। और दूसरी चीज़ है मोमेंट-टू-मोमेंट (पल-प्रतिपल) जीना ही इसेंस (सार) है और फ़ाइनल थिंग (अंतिम चीज़ है) है, व्हिच इज बियोंड हैबिट, बियोंड डिज़ायर, बियोंड एवरीथिंग (जो कि आदतों के, इच्छाओं के और हर चीज़ के परे है)। एफ़र्टलेस एंड मोमेंट-टू-मोमेंट लिविंग विद अ पैसिव साइलेंस एंड सो ऑन (एक अक्रिय मौन के साथ और बिना श्रम के पल-प्रतिपल जीना, इत्यादि)।

उन्होंने यह भी बोला है, जो मैं समझा हूँ, कि आपको उसके लिए एफ़र्ट (श्रम) भी नहीं करना है, *दैट इज़ एफ़र्टलेस पोज़ीशन*।

तो यह वाट इज़ और मोमेंट-टू-मोमेंट लिविंग ये क्या होता है?

आचार्य: अब मोमेंट-टू-मोमेंट का अर्थ अगर टाइम है तो ये तो आपको कोई नहीं सिखाएगा न कि जा करके प्रकृति में जीने लगो, क्योंकि टाइम तो प्रकृति है। तो जब कहा जा रहा है कि मोमेंट-टू-मोमेंट जियो तो इतना ही कहा जा रहा है कि आत्मा में जियो। इसीलिए वहाँ पर आवर-टू-आवर (घंटा-दर-घंटा) नहीं बोल रहे हैं, मोमेंट-टू-मोमेंट बोल रहे हैं।

मोमेंट का मतलब हो गया टाइम को इतना, इतना, इतना छोटा काट दिया कि जैसे शून्य। तो काल शून्यता माने आत्मा। लिविंग मोमेंट टू मोमेंट डज़ नॉट मीन लिविंग इन द प्रेजेंट इंस्टेंस ऑफ टाइम (तो पल-प्रति-पल जीने का अर्थ यह नहीं है कि समय के वर्तमान क्षण में जीना)। इसका मतलब होता है टाइम से बाहर जीना, आत्मा में जीना। आत्मा में जियें और बाक़ी जो अपना चल रहा है चले। और उसके साथ वो सारे सब फिर अपनेआप आ जाएँगे, डिज़ायरलेसनेस, एफ़र्टलेसनेस (कामनारहित, श्रमरहित)।

आत्मा में ही जीना तो सेंट्रल डिज़ायर (केंद्रीय इच्छा) होती है। जो आत्मा में जी रहा है उसके पास फिर वो सेंट्रल डिज़ायर वाली वैकेंसी (खाली जगह) नहीं बचती है। और आत्मा में ही जीने के लिए फंडामेंटल एफ़र्ट (मौलिक श्रम) होता है। वहाँ पर आप जी रहे हो तो फिर वो जो फंडामेंटल श्रम होता है वो नहीं बचता।

फिर श्रम की जगह क्या आ जाता है? क्रीड़ा आ जाती है, लेबरिंग की जगह *प्लेइंग*। फिर आप जो पूरी स्ट्रीम ऑफ टाइम (समय की धारा) है उसमें आप एक प्लेयर (खिलाड़ी) बन जाते हो, एक एफ़र्टलेस, परपज़लेस प्ले , लीला। तो लिविंग मोमेंट-टू-मोमेंट से और कोई आशय नहीं लिया जाना चाहिए। लिविंग मोमेंट-टू-मोमेंट का मतलब बस यही है — आत्मस्थ जीना।

प्र२: सर, पर इसमें जो आत्मस्थ जीने का एक कांसेप्ट (अवधारणा) या जो भी चीज़ है जैसे एफ़र्टलेस जीना, जिसमें कोई एक्शन (कर्म) करने की ज़रूरत नहीं होती है, अपनेआप स्वतः हो जाती हैं चीज़ें। वो चीज़ तो समझ में आ रही है। पर वहाँ तक तो मैं पहुँचा नहीं हूँ। तो आज की तारीख में क्या करूँ, क्योंकि उसमें एक थॉट प्रोसेस (विचार की प्रक्रिया) के प्रति एक स्ट्रगल (संघर्ष) सा चलता रहता है। तो वो समझ में नहीं आता कि किस तरीक़े से आगे बढ़ें। अब कभी-कभी लगता है कि उस पोज़ीशन (स्थिति) को अचीव (प्राप्त) करना है, आत्मस्थ स्थिति को, आत्मा की स्थिति को अचीव करना है। तो वो भी एक तरीक़े से एक बाधा सी हो जाती है। ऐसा आप भी बोलते हैं और कृष्णमूर्ति भी बोलते हैं। तो एक बिना उद्देश्य के चलना बड़ा कठिन सा हो जाता है।

आचार्य: आप व्यापार में हैं, आप लेन-देन करते हैं, उसके बाद आप क्यों पूछ रहे हैं कि क्या करूँ? करते तो हैं दिनभर।

प्र२: जी करते हैं।

आचार्य: दिनभर करते हैं। उसमें आप जो भी करते हैं, बजरिया में, उस बजरिया में आप जो कर रहे हैं वो बजरिया बनाये रखने के लिए होता है या अगर उस बजरिया से आपको कोई दुख-तकलीफ़ है, उससे मुक्ति के लिए होता है?

प्र२: मेरे ख़याल से बजरिया को बनाये रखने के लिए ही होता है और उसका विकास करने के लिए होता है।

आचार्य: तो फिर इसमें यह पूछने की क्या सम्भावना बची कि मैं क्या करूँ? आप दिनभर तो कर रहे हो।

प्र२: नहीं समझा, सर।

आचार्य: दिनभर करे ही तो जा रहे हैं और बाज़ार को बनाये रखने के लिए ही करे जा रहे हैं। तो बाज़ार में कुछ सुख मिल रहा होगा। इतने सारे काम जो हम दिनभर करते हैं उन सब कामों पर कोई कसौटी, क्राइटीरिया, फ़िल्टर कुछ हम लगाते हैं कि ये जो काम है ये क्या है? ये "कबीरा सो धन संचिए, जो आगे को होय", आगे को होने वाला है ये धन? कभी पूछते हैं कि ये क्या है, मैं क्यों कर रहा हूँ?

देखिए, मूल वृत्ति जो करवा रही है वो करते-करते सम्भव नहीं है उससे बाहर आना। साइकिल चलाते-चलाते साइकिल से नहीं उतर पाएँगे, बहुत चोट लगेगी। और साइकिल चल रही है आप ही के श्रम से, दिनभर पैडल मारते हैं। दिनभर पैडल मारते हैं, फिर पूछते हैं उतरूँ कैसे। पैडल मारना बन्द कहाँ करा अभी?

प्र२: नहीं किया।

आचार्य: और पैडल भी मार रहे हैं वही पुरानी साइकिल की, वही पुरानी दिशा में। मैं कह भी दूँ उतर जाइए तो आपको चोट लग जाएगी। पहले या तो दिशा बदलिए या पैडल मारने में थोड़ा कम श्रम लगाइए, कुछ तो बदलिए।

अब ऐसा है कि साइकिल चला रहे हैं और चलाते-चलाते कान में ईयरफोन लगाकर कृष्णमूर्ति की ई-बुक भी सुन रहे हैं। कान में ईयरफोन लगा है, कृष्णमूर्ति को सुना जा रहा है और पैडल भी पूरी ताक़त से मारे जा रहे हैं नीचे, वही साइकिल, वही रोड, वही दिशा। तो कानों में कृष्णमूर्ति को सुनने से कैसे होगा लाभ?

कुछ बदलिए तो। कहीं कुछ हो कि पहले ये था, अब नहीं है। दिशा बदल गयी है, दशा बदल रही है, चैतन्य चुनाव कर रहा हूँ कि ये चीज़ ऐसी नहीं होगी, ऐसी होगी। फ़लानी चीज़ यहाँ से अब नहीं आएगी, फ़लानी चीज़ वहाँ को जाएगी। वो सब चीज़ें बदलनी पड़ेंगी न।

इंटेलेक्चुअल कॉम्प्रिहेंशन (बौद्धिक समझ), वो बिलकुल ऐसे समझ लीजिए कि साइकिल चल रही है और कान में कृष्णमूर्ति चल रहे हैं।

प्र२: सर, पर उसमें जैसे अर्जुन के सामने तो महाभारत थी और श्रीकृष्ण जी का भी वो सब्जेक्ट मैटर (विषय वस्तु)

था। और जो महाभारत मेरी चल रही है, जो व्यापार और बाज़ार चल रहा है, तो मुझे और कोई महाभारत दिखता ही नहीं है।

आचार्य: श्रीकृष्ण के पास भी कोई अपनी व्यक्तिगत महाभारत नहीं थी, न अर्जुन के पास थी। अर्जुन तो तैयार बैठे थे, अर्जुन की भी उम्र हो गयी थी काफ़ी, कम-से-कम पैंतालीस-पचास के रहे होंगे। बोले, 'मैं जा रहा हूँ अपना जंगल में बैठ जाऊँगा आराम से।' अर्जुन कोई लोभी आदमी थोड़ी है कि अरे! मुझे राज्य नहीं मिला, सोना नहीं मिला। और कृष्ण की तो एकदम ही नहीं थी, वो अपना द्वारिका निकल जाते, उनको क्या लेना-देना था, वहाँ मैदान में खड़े हुए थे।

अर्जुन लड़ रहे हैं क्योंकि दुर्योधन के हाथ में सत्ता रहेगी तो देश तबाह हो जाएगा और कृष्ण भी इसीलिए गीता सुना रहे हैं। अपने व्यक्तिगत हित के लिए तो वैसे भी आज तक कोई बड़ी लड़ाई लड़ी ही नहीं गयी। व्यक्तिगत स्वार्थ के लिए तो जो लड़ाई लड़ी जाए वो ख़ुद ही छोटी और टुच्ची हो जाती है। तो अर्जुन को दिख रहा है और कृष्ण को दिख रहा है कि एक बहुत बड़ी चुनौती देश के, विश्व के सामने है, उसको स्वीकार करो।

आपको क्या सामान्य ज्ञान के चलते भी कहीं कोई बड़ी चुनौती नहीं दिख रही, जेनरल नॉलेज (सामान्य ज्ञान) से भी?

प्र२: सर, बहुत सारी दिखती हैं पर उसमें शायद जाने का साहस नहीं होता।

आचार्य: साहस की बात नहीं, स्वार्थ की बात है, प्रेम की बात है। फिर क्या करे कोई? कितने ही राजा लोग रहे होंगे जिन्होंने अर्जुन का साथ देने से मना कर दिया। वो भी अपना मगन थे। ये तो एक प्रेम की और ज़िम्मेदारी की बात है न कि अगर महाभारत छिड़ी हुई है तो कृष्ण खड़े हैं, अर्जुन खड़े हैं, हम भी अपना पूरा लाव-लश्कर सेना लेकर के आ गये कि हाँ, हम भी साथ में खड़े हैं। हमारे पास जो कुछ भी है, सब संसाधन खड़े कर दिये हैं, आपके साथ हम हैं।

ये तो अपनी प्रेम और ज़िम्मेदारी की बात है। नहीं तो कौनसा ऐसा हुआ था कि भारतवर्ष का एक-एक राजा ही आ गया था अर्जुन को समर्थन देने। अर्जुन को जितना समर्थन देने आये थे उससे ज़्यादा तो दुर्योधन के साथ खड़े थे। और बहुत ऐसे थे जो न दुर्योधन के साथ थे, न इनके साथ थे, वो अपने मगन थे। बोले, 'हम अपना काम देख रहे हैं, हमें कोई लेना-देना नहीं।' तो ये कैसे विकसित की जाए, ज़िम्मेदारी की भावना कहाँ से लायी जाए कि यह आपकी ज़िम्मेदारी है? वो पहली चीज़ होती है, नीयत।

कुछ बहुत महत्वपूर्ण है जो दाँव पर लगा हुआ है। मैं निरपेक्ष होकर कैसे बैठ सकता हूँ? कुछ है जो मुझसे मेरी पूरी आहुति, मेरा समर्पण, मेरे संसाधन माँग रहा है, मैं ख़ुद को बचाये-बचाये कैसे बैठ सकता हूँ? और ऐसा नहीं कि मुझे

नहीं पता कि वो मुद्दा इतना संगीन है। मैं जानता हूँ, सामान्य ज्ञान की बात है, मुझे पता है। तो फिर मैं हाशिये पर कैसे बैठा हुआ हूँ? मैं अभी तक कूदा कैसे नहीं?

आनन्द तो जूझने पर ही आएगा। जूझे बिना समझा कुछ नहीं जा सकता। जो आप लर्न (सीखना) करना चाहते हैं न आपको उसको अर्न (कमाना) करना पड़ेगा। बहुत लोग होते हैं, कहते हैं, 'आइ एम इंट्रस्टेड इन लर्निंग' (मैं सीखने में रुचि रखता हूँ)। बट हाउ, विदाउट अर्निंग? (लेकिन कैसे, बिना कमाये?) उसे कमाना पड़ता है, ज्ञान कमाना पड़ता है। और उसमें मूल्य चुकाना पड़ता है जीवन का अपने। लर्निंग विदाउट अर्निंग (कमाये बिना सीखना) सम्भव नहीं है।

कृष्णमूर्ति की किताब खोलकर के आप नहीं समझ पाएँगे कि वो क्या कह रहे हैं। उसके लिए वो सब कुर्बानियाँ भी देनी पड़ेंगी जो उन्होंने अपने जीवन में दी थीं।

वो आपको सिखा रहे हैं धारा के विरुद्ध तैरना। जिसका हमने कभी चुनाव ही नहीं करा, जैसे एक तैराक आपको कैसे अपने शब्दों से बता पाएगा कि धारा के ख़िलाफ़ तैरना क्या चीज़ होती है, कैसे बता पाएगा, बता सकता है क्या? तो हम वहाँ किनारे पर बैठे हुए हैं और वो बता रहे हैं कि धारा के ख़िलाफ़ ऐसे तैरा जाता है और ऐसा-ऐसा होता है, हमें क्या समझ में आएगा! आपको भी कूदना पड़ेगा न। निरपेक्षता या साक्षी का यह मतलब क़तई नहीं होता।

मैंने कविता लिखी थी और बड़ी खूबसूरत कविता थी। मेरा एक सीनियर था, वो कहता था मैं कृष्णभक्त हूँ। उस समय भी आइआइटी में आ जाते थे, वो वहाँ कृष्णभक्त बन जाते थे। तो वो बोलता था, 'जो हो रहा है सब ठीक ही चल रहा है, आज तक जो हुआ सब ठीक था। आज भी सब ठीक हो रहा है।' मेरे नहीं समझ में आया था तब भी। तो यह एक कविता है:

"दीये का हवाओं से जूझना प्रेरणास्पद लगा, मुझे भी, तुम्हें भी"

ठीक है, हमारे सामने एक दीया है, दीया हवाओं से जूझ रहा है और हम कह रहे हैं ये कितनी प्रेरणास्पद बात है, कितनी मोटीवेटिंग बात है।

"दीये का हवाओं से जूझना प्रेरणास्पद लगा, मुझे भी, तुम्हें भी चींटी का अथक परिश्रम मन भाया, मेरे भी, तुम्हारे भी"

तो दीया हवाओं से जूझ रहा है, चींटी एक, जो भी है उसके पास बोझ, उसको लेकर चढ़ने की कोशिश कर रही है।

"तिनके का डूबते को सहारा देना हौसला बँधा गया, मेरा भी, तुम्हारा भी"

एक तिनका है पर वो डूबते को सहारा देने का प्रयास कर रहा है। ये बात हमें बड़ी अच्छी लगी, हौसला-अफ़ज़ाई हुई।

"इतिहास के पन्नों पर छपी संघर्षों की गौरवशाली गाथाएँ पिघला गयीं, मुझे भी, तुम्हें भी"

बड़ा अच्छा लगा इतिहास में देखा ऐसा हुआ था और क्या संघर्ष किया, क्या जान लगा करके लड़ाई करी। फिर आगे सुनिएगा,

"पर, जब हम दीये के जीवट की प्रशंसा कर रहे थे, चींटी को देखकर आश्चर्य व्यक्त कर रहे थे, तिनके के प्रति आभार प्रकट कर रहे थे, इतिहास पुरुषों के समक्ष सिर झुका रहे थे, ठीक उसी वक़्त, कहीं कोई दीया दम तोड़ रहा था, चींटी हज़ारवीं बार ज़मीन पर गिर रही थी, तिनका स्वयं भी डूब चुका था और, कहीं कोई अकेला अपनी अकेली लड़ाई हार रहा था।"

~ आचार्य प्रशांत (मई ४, १९९७, आयु: १९ वर्ष)

हम कविता लिख रहे थे। अगर दिख रहा है कि दुनिया में क्या चल रहा है, कहीं कोई दीया दिख रहा है, कहीं कोई चींटी दिख रही है, कहीं कोई तिनका दिख रहा है, तो आप वहाँ कोने में बैठकर के कान में ईयरफोन लगाकर क्या सुन रहे हैं? आइए, कूदिए, उतरिए, साथ दीजिए। सन् सत्तानबे की है यह, बताइए पच्चीस साल बीत गये, कुछ बदला नहीं।

प्र२: जी आचार्य जी, नीयत की ही बात है। नीयत पर काम करना होगा मुझे। पार्ट टाइम (अंशकालिक) की तरह से नहीं लेकर के मुख्य तरीक़े से लेना है।

धन्यवाद!

मर जाओ, फिर लड़ जाओ

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः। आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।

हे कुन्तीपुत्र, इंद्रियों और विषयों का संस्पर्श ही शीत-उष्ण और सुख-दुख देने वाला है। वे आते हैं और फिर चले जाते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं, वे अनित्य हैं। अतः हे अर्जुन, तुम तितिक्षा दर्शाओ।

~ श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक १४

आचार्य प्रशांत: तितिक्षा माने? सुख-दुख, समस्त आवागमन को अकम्पित रह करके सहना। क्या कह रहे हैं अर्जुन से? ये जो कुछ भी है, जो प्रतीत तो होता है, अनुभव तो होता है पर यथार्थ नहीं है क्योंकि नित्य नहीं है, क्योंकि उसे बदल जाना है, क्योंकि आकर चले जाना है, क्योंकि जाकर पुनः वापस आना है; उसके साथ बहना नहीं है, उसे सहना है।

बहो नहीं, सहो।

बात दूर तक जाती है देखिए, अनित्य कह दिया तो आगे जाकर ये भी कह सकते थे कि मिथ्या है क्योंकि जो अनित्य है वो वास्तव में है ही नहीं। लेकिन अर्जुन को तो प्रतीत हो रहा है न। अर्जुन आत्मस्थ नहीं, तो किसी पंडित मात्र की तरह कृष्ण यहाँ नहीं कह देते हैं कि समस्त भावनाएँ, विचार, सुख-दुख और अनुभव अनित्य हैं, असत्य हैं। इनको बस जान लो मिथ्या और तुम मुक्त हो। नहीं, ऐसा नहीं कहेंगे क्योंकि कृष्ण यथार्थ के धरातल पर काम कर रहे हैं।

उनके सामने कोई मुमुक्षु शिष्य नहीं बल्कि एक मोहित योद्धा खड़ा हुआ है। तो कृष्ण नहीं कहते कि भावनाओं, विचारों, उद्वेगों आदि का कोई अस्तित्व ही नहीं है। वो कहते हैं, ‘तुम्हारे लिए तो है अर्जुन और तुम यही कर सकते हो कि उनको सहो। तब तक सहते रहो जब तक सहने की आवश्यकता बची हुई है।’ एक बिंदु ऐसा आता है जिसके पश्चात सहना ही नहीं पड़ता क्योंकि असत् का अनुभव होना ही समाप्त हो जाता है। जब पीड़ा ही नहीं रहेगी तो सहोगे किसको?

लेकिन अभी तो पीड़ा है। अभी अर्जुन को सिर्फ़ इतना कह देने से कि झूठ है जीव का अस्तित्व ही, आत्मा ही एकमात्र सत्य है, बात बनेगी नहीं। न सिर्फ़ बात नहीं बनेगी बल्कि थोड़ी विचित्र हो जाएगी।

‘यदि आत्मा मात्र का अस्तित्व है तो आप मुझे किसे मारने को कह रहे हैं? और मारूँ क्यों? यदि आत्मा मात्र का

अस्तित्व है तो मैं कुछ भी क्यों करूँ? कोई कुछ भी क्यों करे? यदि आत्मा मात्र सत्य है तो कौन प्रवचन दे रहा है अभी और किसको?' तमाम तरह के प्रश्न खड़े हो जाएँगे। तो इसलिए जो बात कृष्ण कह रहे हैं वो बहुत व्यावहारिक, बहुत उपयोगी, बहुत सार्थक है।

कृष्ण कह रहे हैं, 'तुम्हारे लिए तो अभी अनित्य का अस्तित्व है ही। लेकिन मैं साथ ही ये भी बता रहा हूँ कि जिसको तुम इतना महत्व, इतना वज़न, इतना मूल्य दे रहे हो, वो है अनित्य। दोनों बातें मैं एकसाथ कह रहा हूँ।'

तुम्हारे लिए अनित्य नहीं है, तुम्हारे लिए अनित्य होना चाहिए लेकिन। क्योंकि अनित्य नहीं होगा तो तुम उसी तरह ऊहापोह और बेचैनी में पड़े रहोगे जैसे अभी हो। तो भ्रम है ये सब कुछ लेकिन इसको काटने का रास्ता भी भ्रम के बीचोंबीच जाता है। अहंकार हो अभी तुम अर्जुन, आत्मा नहीं हो। इसीलिए तुम्हें धर्म का पालन करना चाहिए।

धर्म क्या?

जो अहम् को आत्मा की ओर ले जाए, वो धर्म है। यही धर्म की परिभाषा है।

इसका मतलब है कि आत्मा के सन्दर्भ में धर्म का कोई अर्थ होता ही नहीं। आत्मा को धर्म नहीं चाहिए, धर्म अहम् को चाहिए। धर्म अहम् को चाहिए ताकि वो आत्मा की ओर बढ़ सके क्योंकि आत्मा की ओर बढ़ने में ही उसकी भलाई है। क्योंकि अहम् क्या है, जैसे जलता हुआ एक पिंड, जैसे लगातार रोता हुआ मन, जैसे तपता हुआ शरीर। उसे शान्ति चाहिए, उसे शीतलता चाहिए। वो झूठ भले ही है पर अपनी दृष्टि में तो वो सबसे बड़ा सत्य है।

सत्य की दृष्टि से, तात्विक दृष्टि से अहम् नहीं है पर अहम् के लिए तो अहम् ही है। तो धर्म का सारा क्षेत्र, गीता का सारा प्रवचन अहम् को ही सम्बोधित किया गया है। और अहम् से कहा जा रहा है — तुम वो करो जो तुम्हें आत्मा की ओर ले जाएगा। मोह और तमाम तरह के अन्य प्राकृतिक गुण-दोष तुमको तुममें ही फँसाये रहेंगे। तुम्हें अगर स्वयं से बाहर आना है तो अपने विपरीत जाकर ही अपनेआप से बाहर आ पाओगे। तुम वो मत करो जो तुम्हें अभी रुचिकर लगता हो, प्रिय लगता हो। तुम वो करो जो उचित है। और उचित अभी ये है कि अहम् की उस दिशा को बाधित किया जाए जो आत्माविरुद्ध जाना चाहती है। अहम् की उस दिशा का क्या नाम है? अहम् की उस दिशा का नाम है कुरुदल, कौरवसेना।

तर्क पूरा समझ में आ रहा है?

अहम् हो तुम, अर्जुन, और तुम्हारी भलाई इसी में है कि आत्मा की ओर बढ़ो। हर जीव जो अपनेआप को अहम्

समझता है उसकी भी भलाई इसी में है कि आत्मा की ओर बढ़े। लेकिन आत्मा की ओर बढ़ने, सच्चाई की ओर बढ़ने से रोकने वाली शक्ति जगत में मौजूद है और इस समय तुम्हारे सामने उस शक्ति का नाम है कौरवसेना। इसलिए तुम्हें लड़ना होगा कौरवसेना से, अन्यथा कोई कारण नहीं था।

यदि जीवनमुक्त होते अर्जुन, और जीवनमुक्तों का ही समाज होता, कौरवों से फिर किसी को कोई ख़तरा नहीं होता; फिर महाभारत के युद्ध की कोई आवश्यकता नहीं थी। अभी युद्ध की आवश्यकता है, अभी एक विशेष कारण है कि स्वयं कृष्ण इस युद्ध में सम्मिलित हैं।

अभी स्थिति ये है कि अहम् दोराहे पर खड़ा है, जहाँ से एक रास्ता धर्म का है जो उसे आत्मा की ओर ले जाएगा और दूसरी दिशा अधर्म की है, कौरवों की है, जो उसे और ज़्यादा लालच की ओर, कुटिलता की ओर, हिंसा की ओर, विनाश की ओर ले जाएगी। इस बिन्दु पर सभी खड़े हुए हैं — अर्जुन भी खड़े हैं, हस्तिनापुर की समस्त प्रजा खड़ी है और इतने सारे जो भारतभर के राजा-योद्धा एकत्रित हैं, वो सब भी वहाँ खड़े हैं। इन सबके हित में यही है कि कौरव हारें, स्वयं कौरवों के हित में भी यही है कि वे हारें। इसलिए ये युद्ध आवश्यक है।

ये युद्ध इसलिए नहीं लड़ा जा रहा कि एक ओर अहम् है और एक ओर आत्मा है। नहीं। अहम् की ही अहम् से लड़ाई है। हाँ, अहम् का एक पक्ष आत्मामुखी है, अहम् का दूसरा पक्ष आत्मा से विमुख है, आत्मा की ओर पीठ करे हुए है।

तो कृष्ण यहाँ स्पष्ट देख रहे हैं कि किसको जीतना चाहिए और इसलिए अर्जुन को बार-बार प्रेरित करते हैं कि उठो, युद्ध करो। जितनी भी मानवीय दुर्बलताएँ होती हैं, वो इस वक़्त आकर तुमको कचोटेंगी, तुम उनको सहो।

और यही अन्तर होता है अहम् की दो दिशाओं में। एक अहम् होता है जो बह जाता है जब प्रकृति उसको लुभाती है या डराती है या भरमाती है। लोभ, भय, भ्रम, इनमें बह जाता है एक प्रकार का अहम्। और एक दूसरा अहम् होता है जो कहता है कि जो भी मुझ पर अनुभवों के आघात हो रहे हैं, उससे कहीं आवश्यक है मेरा कर्तव्य, मेरा धर्म। कभी-कभी वो उसको अपना प्रेम भी कह देता है।

चोट तो लग ही रही है, प्रकृति माँ है मेरी, वो मेरी रग-रग से परिचित है, वो भली-भाँति जानती है कि मैं किन-किन जगहों पर दुर्बल हूँ। एक माँ को अपनी सन्तान के बारे में क्या कुछ नहीं पता होता! आपके बारे में प्रकृति को सब कुछ पता है। वो ठीक वहीं पर चोट करेगी जहाँ आप सबसे ज़्यादा कमज़ोर हैं। तो प्रकृति जब चोट कर रही है तो लग तो रही है मुझे, पीड़ा उठ रही है, पर अभी मैं इस पीड़ा को अपने ऊपर छाने की अनुमति नहीं दे सकता, कुछ और है जो कहीं ज़्यादा महत्वपूर्ण है। ये हम कह रहे हैं दूसरे प्रकार का अहम् है। ये सह लेता है क्योंकि इसे प्रेम है। या कह सकते हैं कि ये सह लेता है क्योंकि इसकी दृष्टि में सत्य का मूल्य सुविधा से कहीं ज़्यादा है।

प्रत्येक जीव को छूट है कि वो इन दोनों में से किसी को चुन ले — सहने को या बहने को। कौरवों ने तो चुनाव कर लिया है और वो दृढ़ हैं अपने चुनाव पर। अर्जुन थोड़े से विशेष हैं क्योंकि वो अभी चुनने की प्रक्रिया के मध्य में हैं, दोराहे पर खड़े हुए हैं, वो इधर भी जा सकते हैं, उधर भी जा सकते हैं।

वास्तव में जब अर्जुन कह रहे हैं कि मैं युद्ध नहीं करना चाहता, तो समझने वाले समझेंगे कि वो ये कह रहे हैं कि उन्हें कौरवों की तरफ़ जाना है। क्योंकि कौरव कौन? जो वृत्ति के बहाव में बह गया। और यही तो अर्जुन करने पर उतारू हैं कि मुझे भी वृत्ति के बहाव में बह जाना है। ऊपर-ऊपर से देखने वालों को लगेगा कि अर्जुन रथ से उतरे और जंगल की ओर पलायन कर गये, संन्यस्त हो गये, बोले, 'युद्ध नहीं करूँगा'। पर जानने वाले जानेंगे कि अगर अर्जुन युद्ध छोड़कर चले गये होते तो वो वास्तव में कौरवों में सम्मिलित हो गये होते।

कौरवों की परिभाषा ये नहीं है कि जो धृतराष्ट्र के पुत्र हैं या जिनमें आपस में रक्त सम्बन्ध है। एक प्रकार के मन का नाम है कौरव। और वो जो मन है वो धृतराष्ट्र के भाइयों में भी पाया जाता है और युधिष्ठिर के भाइयों में भी। उसी मन का प्रदर्शन अभी हम अर्जुन में देख रहे हैं।

कृष्ण चेता रहे हैं। बोल रहे हैं, 'मैं भली-भाँति समझता हूँ तुम्हारी सब मानवीय दुर्बलताओं को, मुझे मालूम है अभी तुम्हें कैसा अनुभव हो रहा होगा। ब्रह्म होकर नहीं बोल रहा, मनुष्य होकर बोल रहा हूँ। उस मनुष्य को भले ही तुम अवतार का नाम दे लो लेकिन अवतार होता तो मानवीय ही है न। सत्य होकर नहीं बोल रहा, अर्जुन, अभी तुमसे मैं जीव होकर बोल रहा हूँ। जीव होकर बोल रहा हूँ इसीलिए जीव की पीड़ा समझता हूँ। मुझे मालूम है अभी तुम्हारे हृदय में कैसी वेदना उठी है। इतना ही कह सकता हूँ, सह लो, उसी में कल्याण है।'

'सह लो।' यही गीता का सन्देश है समस्त विश्व के लिए।

सही काम में जो पीड़ा मिले अगर उसे प्रेम का उपहार मान कर सीने से नहीं लगा सकते, अगर उसे देवता का प्रसाद मानकर माथे से नहीं लगा सकते, तो उसे दवाई का कड़वा घूँट ही मानकर बस सह लो।

बहुत अच्छा होता कि उसे प्रेम का उपहार मानते, सहना नहीं पड़ता, बात आनन्द की होती। बहुत अच्छा होता अगर उसे देवत्व का प्रसाद मानते, सहना नहीं पड़ता, बात समर्पण की होती। पर हम ऐसे हैं नहीं कि हममें बहुत प्रेम हो या समर्पण हो या ज्ञान भी हो।

जब प्रेम भी आधा-अधूरा हो, भक्ति और समर्पण भी आधे-अधूरे हों, ज्ञान अभी बहुत ज़्यादा न हो, तब के लिए सीख यही है — सहते चलो, सहते चलो। पीड़ा उठेगी, पर वो पीड़ा इसलिए नहीं उठ रही है कि तुमको जो चीज़ मिल रही

है जिसे तुम सह रहे हो, वो चीज़ अपनेआप में तुम्हारे लिए घातक है, तुम्हें पीड़ा इसलिए उठ रही है क्योंकि तुम्हारी स्थिति ऐसी है कि सही चीज़ भी तुम्हें पीड़ित कर जा रही है।

बाहर का मौसम बड़ा सुन्दर है अभी। क्या हवा बह रही है! सबकुछ सुखद। और एक बीमार आदमी है, उससे कहा जा रहा है, 'आओ थोड़ा सा टहल लो, वो टहलना तुम्हारी सेहत के लिए भी अच्छा है।' और बीमार आदमी निकला है सड़क पर और चार कदम चलना और हवा के मन्द, शीतल झोंके भी झेलना उसे भारी पड़ रहा है। उसकी टाँगों में दर्द शुरू हो गया। ज़रा सी हवा लगी, उसका बुख़ार चढ़ने लगा। लेकिन उसके साथ कोई शुभचिन्तक है, वो उससे कह रहा है, 'सह लो। चलो, थोड़ा और चलो। बिस्तर पर ही पड़े रहोगे तो तुम्हारी बीमारी कभी हटेगी नहीं। थोड़ा-थोड़ा चलना शुरू करो। सहो!'

अब क्यों कहा जा रहा है, 'सहो'? इसलिए कि हवा बहुत बुरी है, और पृथ्वी ने तुम्हारे ख़िलाफ़ षड्यंत्र करा है जिसे तुम्हें सहना पड़ेगा? चार कदम तुम चल नहीं पा रहे, पृथ्वी ने ज़रूर तुम्हारे लिए बड़ी चढ़ाई खड़ी कर दी है। जैसे ही तुम्हें देखा कि तुम आये हो टहलने के लिए तुम्हारे सामने की सपाट ज़मीन को पर्वत जैसी चढ़ाई बना दिया। पृथ्वी ने कोई साज़िश करी होगी। हवा ने अपना तापमान गिरा दिया ताकि तुम्हें कँपकपी छूटे, तुम्हें ज्वर उठे। ऐसा हुआ है क्या कुछ?

तो जब सहने की सीख दी जा रही है तो उसमें ये भाव नहीं निहित है कि तुम बड़े अच्छे आदमी हो और समस्त संसार और स्थितियाँ तुम्हारे विरुद्ध षड्यंत्र कर रही हैं और तुम अपनी भलाई दर्शाते हुए बस चुपचाप सज्जनता में सहे जाओ। नहीं, ऐसी बात नहीं है। आपको सहना पड़ रहा है, आपको पीड़ा का अनुभव हो रहा है क्योंकि आप दुर्बल हैं। क्योंकि आपके अतीत में आपने सही निर्णय नहीं लिये, इसलिए ये स्थिति आ गयी है कि आपको एक साधारण स्थिति भी सहज नहीं लग रही, सहनी पड़ रही है।

यही व्यक्ति अगर स्वस्थ होता तो कहता, 'वाह! मलय पवन के झोंके, क्या खुशगवार हवा है!' यही व्यक्ति अगर स्वस्थ होता तो खाली मैदान देखकर सरपट दौड़ लगा देता। कहता, 'दौड़ने में बड़ा मज़ा आ रहा है, इतना अच्छा मौसम।' पर जब आप ठीक नहीं होते तो सब स्थितियाँ आपको भारी पड़ती हैं ।

कृष्ण कह रहे हैं, 'जब स्थितियाँ भारी पड़ें, तुम न तो स्थितियों को दोष देने लग जाओ, न स्थितियों से पलायन कर जाओ। बस एक बात का निश्चय कर लो कि दिशा सही है तुम्हारी। दिशा सही है तुम्हारी, उसके बाद स्थितियों से जो भी कष्ट मिलता है, उसको सहते रहो।' सहते रहो और ये भाव कभी मत लाना कि स्थितियाँ ख़राब हैं।

स्थितियाँ नहीं ख़राब हैं, तुम कमज़ोर हो। सह तुम स्थितियों की मार को नहीं रहे, सह तुम अपनी कमज़ोरियों को रहे हो। और सहना इसलिए आवश्यक है क्योंकि जितना सहोगे, उतना भीतर की दुर्बलता मिटेगी। जब तुम दौड़ रहे हो

तो वास्तव में न तुम पृथ्वी के विरुद्ध दौड़ रहे हो न पवन के, तुम अपने ही विरुद्ध दौड़ रहे हो।

ग़ौर से सोचिएगा, जब आप दौड़ते हैं तो आप किसके विरुद्ध दौड़ रहे होते हैं? आप अपनी ही कमज़ोरी के विरुद्ध दौड़ रहे हैं, आप अपने ही वज़न के विरुद्ध दौड़ रहे हैं, वही है जो आपके दौड़ने में बाधा है। 'तो तुम सह भी रहे हो अर्जुन, तो अपने ही कर्मफल को सह रहे हो। हाँ, ये जो सहनशीलता है, मैं अभी जिसका उपदेश दे रहा हूँ, अर्जुन, ये एक विशिष्ट सहनशीलता है क्योंकि ये तुम्हारी दुर्बलता मिटा देगी।'

समझ में आ रही है बात?

तितिक्षा का अर्थ ये नहीं है कि किसी भी अन्धी दिशा में जा रहे हो और उस अन्धी दिशा में जाने के कारण जो पीड़ा हो रही है उसको बस तुम सहे जाओ। न! तितिक्षा का अर्थ है सही दिशा में जाने पर जो भी ऊँच-नीच झेलनी पड़े, झेल लो।

सिर्फ़ इसलिए कि कोई अपने प्राण तक देने को तैयार है, इससे वो व्यक्ति सही सिद्ध नहीं हो जाता। आप मृत्यु-तुल्य पीड़ा को भी झेलने को तैयार हो, इससे भी आपकी साधुता प्रमाणित नहीं हो जाती। अहम् का ऐसा है कि वो अपनी अज्ञानता को बचाने के लिए शारीरिक मृत्यु तक का वरण करने को तैयार हो जाता है। आपको लोग मिलेंगे जो अपने खोखले आदर्शों के लिए और अपने झूठे पूर्वाग्रहों और हठों के लिए मरने को तैयार हो जाते हैं। वो कैसी भी पीड़ा सहने को तैयार हो जाते हैं। तो सिर्फ़ सह लेने को तितिक्षा नहीं कहते, सच्चाई की राह में जो कुछ भी आये, उसको सहने को तितिक्षा कहते हैं।

हमें बड़ा भ्रम हो जाता है कई बार, हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति है जो बड़ी आपदा में भी डटा हुआ है, टिका हुआ है, तमाम तरह के कष्टों के समक्ष भी अडिग है। हममें सम्मान उठने लगता है, हम कहते हैं, 'ये व्यक्ति, देखो, निसन्देह आदर का पात्र है। कितनी प्रतिकूल स्थितियाँ हैं और ये अटल है।' नहीं-नहीं-नहीं-नहीं, ये धोखे की हालत हो सकती है।

कोई अटल तो है, कोई है जो नहीं हार मान रहा, सब बर्दाश्त कर रहा है, पर किसकी ख़ातिर? चाहता क्या है वो?

हार तो दुर्योधन भी नहीं मान रहा था। सारे योद्धा मर गये, सारे भाई गँवा दिये, पूरी सेना नष्ट हो गयी, उसके बाद भी हार थोड़े ही मानी थी, जाकर के एक सरोवर में छुप गया था। फिर जब अन्त में मौक़ा मिला, बोला, 'हाँ बिलकुल, युद्ध करूँगा।' गदायुद्ध किया भीम से।

दुर्योधन को हराने का तो कोई तरीक़ा ही नहीं था, उसे बस मारा जा सकता था। वो सब तरह के कष्ट सहने को तैयार था, हार नहीं माननी थी उसे। आपके जीवन में भी बहुत लोग ऐसे होंगे, हो सकता है आप स्वयं ऐसे हों कि आपने कुछ बातें, कुछ सिद्धान्त, कुछ वस्तुएँ, कुछ व्यक्ति पकड़ रखे हों और आप कहते हों कि इनकी ख़ातिर तो मैं सबकुछ सहूँगा। ये बात कोई आवश्यक नहीं है कि सत्य या प्रेम का द्योतक हो। ये बात बहुत गहरे अहंकार का भी द्योतक हो सकती है।

रावण ने भी सब कुछ सहा, कहाँ हार मानी, कहाँ समर्पण किया। समानता है दुर्योधन में, रावण में, दोनों ने अपने पूरे कुल का नाश देखा अपने सामने और तब भी झुके नहीं। आप झुकने को तैयार नहीं हैं, इससे ये नहीं साबित हो जाता कि आप बड़े सच्चे आदमी हैं। प्रश्न ये है कि आप किसके सामने नहीं झुक रहे।

झूठ के सामने न झुकना एक बात है, लेकिन बहुत सारे ऐसे लोग जो बिलकुल झुकने को तैयार नहीं होते, वास्तव में वो सच के सामने तने खड़े होते हैं। वो कहते हैं, 'सच के सामने नहीं झुकूँगा।' और इस बात में वो बड़ी वीरता मानते हैं। और सच के सामने आप नहीं झुकोगे तो कष्ट तो मिलेगा ही। उस कष्ट को सहने में भी वो बड़ी शूरता समझते हैं।

एक सहनशीलता होती है जिसमें आप कष्ट को सहते हैं तो धीरे-धीरे कष्ट कम होता जाता है और एक सहना होता है बिलकुल दूसरे प्रकार का, जिसमें आप जितना सहेंगे, आपको कष्ट उतना मिलेगा।

सहने से पहले गहना सीखिए। कौनसा कष्ट सह रहे हो? किसकी रक्षा में पीड़ा झेलने को तैयार हो? गहो — गहो माने जानो — फिर सहो। झूठ की ख़ातिर ज़रा सा भी कष्ट मत सहो। वो चीज़ इतनी सस्ती है, इतनी मूल्यहीन है कि उसके लिए ज़रा सी भी पीड़ा क्यों उठानी? ज़रा सी भी पीड़ा नहीं उठाएँगे। कोई भाव नहीं देंगे। और सच की ख़ातिर, सिर्फ़ सच की ख़ातिर जो कुछ भी झेलना पड़े झेल लेंगे।

समझ में आ रही है बात?

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ। समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।

हे पुरुष श्रेष्ठ, ये शीतोष्णादि जिस धीर व्यक्ति को व्यथित नहीं कर पाते, सुख-दुख में एक सा रहने वाला वोव्यक्ति आनन्द अमृत का अधिकारी होता है।

~ श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक १५

आनन्द की परिभाषा समझ लीजिए। चूकिएगा नहीं। बड़ी महत्वपूर्ण जगह आ गये हैं।

सही रास्ते पर जैसे भी अनुभव होते हों, उन अनुभवों में अव्यथित, अकम्प रहना ही आनन्द है। श्लोक को दोहराता हूँ, देखिएगा कि जो बात मैंने कही वही श्लोक में परिलक्षित है कि नहीं।

"ये शीतोष्णादि विषय जिस धीर व्यक्ति को व्यथित नहीं कर पाते, वोसुख-दुख में समान रहने वाला व्यक्ति आनन्द अमृत का अधिकारी है।"

सुख-दुख में समान रहना माने सबकुछ सहना, बिना माथे पर शिकन लाये, बिना एक पल को भी ये विचार करे कि क्यों न घुटने टेक दिये जाएँ। लेकिन क्या दुर्योधन आनन्द में है? दुर्योधन भी तो सब शीतोष्णादि सहन कर रहा है। नहीं? तो हमने ये नहीं कहा कि सिर्फ़ सुख-दुख और गर्मी-ठंडी में जो अडिग रहता है, वो आनन्द का अधिकारी होता है। हमने ऐसा नहीं कहा। हमने कहा — सच्चाई के मार्ग पर जो सुख-दुख और तमाम अनुभवों और पीड़ाओं में भी अडिग रहता है, वो आनन्द-अमृत का अधिकारी हुआ। इसी को आनन्द कहते हैं।

सही काम कर रहे हैं, तमाम तरह के अनुभव आ रहे हैं। अनुभव आ रहे हैं माने ऐसा नहीं कि वो आ रहे हैं और कहीं दूर रुक जा रहे हैं। अनुभव का अर्थ ही यही है कि वो सीधे अनुभोक्ता तक पहुँचे हैं, उन्होंने मेरे अन्तस पर प्रहार करा है, तभी तो अनुभव हुआ है, नहीं तो अनुभव कैसे होता! अनुभव का अर्थ है कि संसार इन्द्रियों के माध्यम से मन तक पहुँच गया, इसको अनुभव कहते हैं।

तो अनुभव का मतलब, वो जो बाहरी चीज़ है, वो बहुत भीतर तक आ गयी। बहुत भीतर तक आ गयी, फिर भी भीतर कुछ और बैठा है जो बहुत आवश्यक है और जो बहुत आकर्षक है, जिससे प्रेम हो गया है। इतना कि बाक़ी जो भी कुछ चल रहा है वो वैसा ही है जैसे आप कोई बहुत सुन्दर, मनोहर नाटक देख रहे हों और मच्छर काटते हों आपको और नाटक बड़ा मनभावन है। मच्छरों के काटने का कुछ पता चलेगा? बहुत कम पता चलेगा।

और आगे बढ़िए। आप कुछ बहुत ज़रूरी काम कर रहे हैं, किसी की जान बचाने का ही काम कर रहे हैं और झींगुर बोल रहे हैं, झींगुरों की आवाज़ आपके कान तक तो आ ही रही होगी, अनुभव तो हो ही रहा है। दो-चार झींगुर उड़कर आपके ऊपर भी बैठ गये हैं, एक-आध-दो कीड़ों ने आपको कहीं काट-वाट भी लिया है, कुछ अनुभव होगा? होगा तो, आप उसे मूल्य नहीं देंगे।

और आगे बढ़िए। आप किसी बहुत महत्वपूर्ण युद्ध में संलग्न हैं। इस समय तो कीड़ों की काट छोड़िए, आपको गोली और बरछे की काट भी कम ही पता चलेगी। लड़-भिड़कर जब वापस लौटेंगे तब अपने शरीर को ध्यान से देखेंगे कि कहाँ-कहाँ कट गया।

कुछ ऐसी सी बात है। जीवन में कुछ इतना महत्वपूर्ण होना चाहिए जिसके सामने ये छोटी-मोटी बातें पता न चलें। सहना तो है ही, लेकिन अगर सहने पर बहुत ध्यान चला गया तो सह नहीं पाओगे। किसी ऐसी चीज़ के प्रेम में पड़ जाइए कि सहने पर भी ध्यान न देना पड़े। फिर सह भी लेते हो और सहने की पीड़ा से भी नहीं गुज़रना पड़ता। इसी को आनन्द कहते हैं।

आनन्द एक निष्कर्ष जैसा है। आनन्द के बस अप्रत्यक्ष प्रमाण हो सकते हैं। एक व्यक्ति है जिसको आप बाहर से देखें, ज़रा दूर से देखें तो दिखायी पड़े कि ये कितने संघर्ष में है, कितनी प्रतिकूल परिस्थितियों में है और वो व्यक्ति फिर भी डटा हुआ है — आवश्यक नहीं है कि मुस्कुरा कर ही डटा हुआ हो, जैसा भी है, डटा हुआ है — तो इससे फिर हम एक अप्रत्यक्ष निष्कर्ष निकालते हैं कि इसके भीतर कोई कहीं कोई बहुत गहरा सुख है। उस सुख के कारण ही ये बाहर की सब प्रतिकूलताओं को आसानी से या मुश्किल से, जैसे भी, सह पा रहा है। इसके भीतर कुछ ऐसा बैठा हुआ है जिसमें ये इतना मग्न है, इतना आप्लावित है कि बाहर इसे जो भी दुख आदि भी मिल रहे हैं, उन पर ये बहुत ध्यान नहीं दे रहा।

जैसे बाहर बहुत ठंड हो, बहुत ठंड है बाहर, बर्फ़-ही-बर्फ़ पड़ रही है — शून्य से दस डिग्री नीचे, बीस डिग्री नीचे — और कोई व्यक्ति है, वो मज़े में चला जा रहा है बर्फ़ पर, कपड़े भी उसने साधारण ही पहन रखे हैं। गर्म कपड़े पहन रखे हैं पर वो इतने भी गर्म और इतने भी भारी नहीं हैं कि इतनी बर्फ़ और इतनी ठंड से उसको बचा देंगे। और बाहर ठंड बहुत है, हवा बहुत चल रही है, और वो व्यक्ति चला जा रहा है। तो आप तुरन्त किस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे?

बताइए, (एक स्वयंसेवी से पूछते हैं) कश्मीर में जब ऐसा होता है तो इसका क्या मतलब होता है? कोई इतनी ठंड में चला जा रहा है, कैसे चला जाएगा? बाहर ठंड-ही-ठंड है, तो कैसे चला जा रहा है वो? अरे! मौज छोड़ो न। गर्मी कहाँ से आ रही है? अन्दर क्या है उसके? तुम कैसे कश्मीरी हो! क्या रखकर घूमते हैं भीतर?

स्वयंसेवी: कांगड़ी।

आचार्य : हाँ! वो कांगड़ी रख के घूम रहा है, उसको आनन्द कहते हैं। बाहर कुछ भी चल रहा है और व्यक्ति मज़े में घूम रहा है। तो कुछ तो इसके पास है भीतर जो हमें दिख नहीं रहा पर होगा ज़रूर। नहीं तो ये ऐसे घूम नहीं सकता था।

कांगड़ी, वही आनन्द है। वो तो फिर भी थोड़ा सा बाहर होती है, वो कपड़ों की एक परत के ही नीचे होती है। आनन्द, ये जितनी परतें हैं देह की, इन सब के नीचे होता है। वो एकदम ही छुपा हुआ होता है, वो पता ही नहीं चलेगा। पर होता ज़रूर है। नहीं तो हाड़ कँपा देने वाली दुनिया की इस ठंड में वो ऐसे कैसे मज़े में भ्रमण कर रहा होता? उसे

आनन्द कहते हैं।

समझ में आ रही है बात?

लेकिन मैं इसमें फिर सतर्क किये देता हूँ — सिर्फ़ इसलिए कि आप तमाम तरह के ख़तरे उठाने को तैयार हो और मुसीबतें झेलने को तैयार हो, सिद्ध नहीं हो जाता कि आपके भीतर सत्य के प्रति मोह है और आप सब दुख झेलने को तैयार हो क्योंकि आपके भीतर एक गहरा आनन्द है, नहीं-नहीं-नहीं। एक प्रश्न हमेशा सबसे पहले पूछा जाना चाहिए, किसके लिए ये सब ख़तरे उठाने को तैयार हो? किसकी ख़ातिर ठंड झेलने को तैयार हो? हो सकता है कि आप उस बर्फ़बारी के बीच में बाहर निकले हो बड़े संकल्प के साथ कि जा रहा हूँ और दो-चार मोटे जानवर लेकर आऊँगा, ठंड बहुत है, उन्हें काटकर खाऊँगा। ऐसा उदाहरण नहीं दिया हमने। हाँ, कितनी भी बर्फ़ पड़ रही हो, आप श्रद्धा में, भक्ति में, प्रेम में बाहर निकले हैं और अकम्पित हैं, तब आनन्द है।

समझ में आ रही है बात?

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।

असत् वस्तु का अस्तित्व नहीं है, परंतु सत् वस्तु का कभी अभाव नहीं है, तत्वज्ञानियों के द्वारा इन दोनों का स्वरूप देखा गया है।

~ श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक १६

तत्वज्ञानियों के लिए तो सब बहुत आसान है। जो नहीं है वो नहीं है। कुछ भी कर लो, कह लो, नहीं तो नहीं। और जो है वो है ही, और उसके अतिरिक्त कुछ और नहीं। ऐसी स्थिति में तो कुछ करने का, कुछ धरने का, किसी को मारने का, किसी को बचाने का, अधर्म को हटाने का, धर्म को बचाने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता न। तत्वज्ञानियों के लिए तो सबकुछ सरल हो जाता है।

पर ये संसार तत्वज्ञानियों का नहीं है, इसीलिए संसार में जटिलताएँ हैं। संसार में जो नहीं है वो होने जैसा प्रतीत होता है, जो है उसका अभाव पता चलता है। जो नहीं है उसी का खेल चहुँदिश है, जो है वो अदृश्य है। और गीता तत्वज्ञानियों के लिए नहीं है, गीता अर्जुनों के लिए है। तत्वज्ञानी तो तत्वस्थ हो गया, वो तो ब्रह्म में जाकर बैठ गया, किसी भी शास्त्र का अब क्या करेगा।

अर्जुन अभी उलझे हुए हैं, अर्जुनों के लिए गीता है। उनको असत् में सत् दिखता है, सत्, असत् जैसा दिखता है।

अर्जुनों को समझाना पड़ता है कि तुम कौन हो और तुम्हारे लिए क्या सही है। तुम वो हो जो कष्ट में है, ऐसा कुछ मत कर देना अर्जुन, जो तुम्हारे कष्ट को और बढ़ा दे। तुमसे मैं बात इसलिए नहीं कर रहा कि आत्मा तुम्हारी सच्चाई है, तुमसे मैं बात इसलिए कर रहा हूँ क्योंकि अहंकार तुम्हारा वर्तमान तथ्य है। आत्मा के तल पर तो कृष्ण और अर्जुन, दो अलग-अलग इकाइयाँ हैं ही नहीं। आत्मा के तल पर तो कृष्ण मात्र हैं, कृष्ण और अर्जुन में कोई पार्थक्य नहीं। अभी तो अहंकार को उपदेश दिया जा रहा है कि कैसे उसका झंझट मिटे, कैसे वो आत्मा की ओर बढ़ सके।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्। विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति।।

जिसके द्वारा ये समस्त संसार व्याप्त है, उसी को विनाश-रहित अर्थात नित्य जानो, कोई भी इस नित्य आत्मा का विनाश करने में समर्थ नहीं होता।

~ श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक १७

सच्चाई से तुम जीत नहीं पाओगे क्योंकि सच्चाई से तुम जीतना नहीं चाहते। सच्चाई इसीलिए जीती होती है। वास्तव में तुम किसी भी पक्ष को जिताओ, तुम कहना तो यही चाहते हो कि सच्चे तुम ही हो। अपनी ओर से आप सच्चाई को हरा भी लोगे, सच्चाई तब भी जीत गयी, क्योंकि झूठ भी यदि जीतेगा तो कहेगा यही कि मैं सच हूँ। झूठ जीतने के बाद कभी ये बोलता है क्या कि देखो झूठ जीत गया? झूठ कभी ये बोलता है कि मेरी हार झूठी है? झूठ को भी अन्ततः सत्य ही चाहिए।

तो सत्य यदि सीधे-सीधे जीतेगा तो जीत ही गया। सत्य यदि हारता भी प्रतीत होगा तो भी परोक्ष रूप से सच ही जीता। हाँ, बस जब सच एक सरल जीत पाता है, प्रत्यक्ष ही जीत जाता है, तो जीव को कष्ट कम होता है। और जब सच की आड़ लेकर झूठ जीतता है तो सब जीवों के लिए दुख ही बढ़ता है। इसलिए धर्म का साथ देना चाहिए, अधर्म का विरोध करना चाहिए।

खेल सारा अपने हित का है। दुख कम करना है या नहीं? धर्म भी माध्यम मात्र है, धर्म भी साधन मात्र है। साध्य तो मनुष्य स्वयं है, अन्त तो मनुष्य स्वयं है। साध्य और अन्त हैं मनुष्य की दुख से मुक्ति। और इस साध्य के लिए साधन है धर्म। तो धर्म कोई नैतिक अपरिहार्यता नहीं है, धर्म कोई कानूनी बात नहीं है। धर्म आपके अपने हित की और उच्चतम स्वार्थ की बात है।

अपने ही हित हेतु धर्म की राह चलें, अपने ही हित हेतु किसी भी अन्य वस्तु से ऊपर सत्य को मूल्य दें। ये बात आदर्शों और नैतिकता और सामाजिकता और नियमबद्धता की नहीं है। ये बात सीधे-सीधे अपने हित, अपने कल्याण की है।

जो व्यक्ति सच्चाई को ही सबसे ऊपर रखता है, वो किसी पर उपकार नहीं कर रहा, वो अपने लिए अच्छा है। वो कुछ ऐसा कर रहा है जिससे उसका अपना ही व्यक्तिगत कल्याण होगा। और ये व्यक्तिगत कल्याण इतना विशेष होगा कि पारमार्थिक हो जाएगा। उसका स्वार्थ, परमार्थ बन जाएगा यदि स्वार्थ सत्य की दिशा में है तो।

"जिसके द्वारा ये संसार व्याप्त है उसी को विनाश-रहित अर्थात नित्य जानो।" बाक़ी सबकुछ यहाँ अनित्य है। जिसके लिए प्रत्येक व्यक्ति आकुल है, वही नित्य है बस। दुर्योधन को सिंहासन क्यों चाहिए? एक आख़िरी सन्तुष्टि के लिए जो उसको लगता है कि पद से उसको उपलब्ध हो जाएगी। कर्ण को दुर्योधन का ही साथ क्यों देना है? एक सन्तुष्टि के लिए। द्रौपदी को दुःशासन का रक्त क्यों चाहिए? एक सन्तुष्टि के लिए। भीम को पत्नी को दिया वचन क्यों रखना है? एक सन्तुष्टि के लिए। उसी सन्तुष्टि का नाम आत्मा है। जैसे ये पूरा जगत उसी की ख़ातिर है, उसी के हेतु है। इसलिए कहा गया है कि उसी अविनाशी तत्व से ये सारा संसार है।

ये सारा संसार हो कैसे सकता था यदि गतिशील न होता? संसार का अर्थ ही है गतिशीलता और गति कैसे होती यदि कोई लक्ष्य न होता? और लक्ष्य हमको दिख रहा है क्या है, लक्ष्य है आत्मा। जानने वाले जानते-बूझते आत्मा की तरफ़ बढ़ते हैं, ज्ञान में, प्रकाश में आत्मा की ओर बढ़ते हैं। न जानने वाले अज्ञानपूर्वक आत्मा की खोज करते रहते हैं। उन्हें पता भी नहीं होता वो किसकी खोज कर रहे हैं पर वो खोज आत्मा की ही कर रहे होते हैं अपने अज्ञान, अपने अंधेरे में। तो जगत में जो कुछ भी चलायमान है, वो है आत्मा के लिए ही।

तो आत्मा एकमात्र अविनाशी तत्व है जो इस विनाशी संसार को चला रहा है।

संसार यदि विनाशी है तो विनष्ट ही क्यों नहीं हो जाता, अब तक मिट क्यों नहीं गया? वो मिटता तभी है जब उसे आत्मा प्राप्त हो जाती है, नहीं तो नहीं मिटता। बस रूपांतरण करता रहता है। इसीलिए तो इतना हम बोलते हैं कि जगत अनित्य है, जगत अनित्य है, परिवर्तनशील है, विनाशी है, पर वो बदल-बदलकर भी प्रकट तो रहता है लगातार, कहीं चला नहीं जाता। संसार जैसा पहले था, आज वैसा बिलकुल नहीं है, पर पहले भी था और आज भी है। बदल-बदलकर भी मिट नहीं जाता। शायद बदलता ही इसीलिए है कि बना रहे।

"कोई भी इस नित्य आत्मा का विनाश करने में समर्थ नहीं होता।" आप आत्मा के विरुद्ध भी यदि जा रहे हैं, तो आपको लग रहा है कि आत्मा के विरुद्ध जाकर सन्तुष्टि मिलेगी, बताइए आपने कहाँ विनाश कर लिया आत्मा का क्योंकि सन्तुष्टि ही तो आत्मा का दूसरा नाम है।

अध्यात्म आपको बस ये समझाने के लिए है कि जो चाहिए उसको सीधे-सीधे ही क्यों नहीं माँग लेते, जिधर को जाना है उसकी तरफ़ का सीधा रास्ता ही क्यों नहीं पकड़ लेते। अध्यात्म आपको ये समझाने के लिए नहीं है कि आत्मा से प्रेम करो। क्यों? क्योंकि ऐसे समझाने की कोई आवश्यकता नहीं है, प्रेम तो सबको आत्मा से ही है। हाँ, कुछ लोग, मैं

कह रहा हूँ, ज्ञान में प्रेम करते हैं, जानते-बूझते करते हैं, कुछ अनजाने में करते हैं।

कुछ ही होते हैं जिन्हें पता होता है कि वास्तव में उन्हें प्रेम किससे है, बाक़ियों को लगता है कि उनको धन-दौलत और हाड़-माँस और पद-प्रतिष्ठा आदि से प्रेम है। जबकि यथार्थ ये है कि प्रेम सबको आत्मा से ही होता है।

आप किसी से भी प्रेम कर लो, आप उसके माध्यम से आत्मा से प्रेम करना चाहते हो। लेकिन जब आप किसी को मध्यस्थ बना लेते हो अपने प्रेम में, तो प्रेम की राह ज़रा मुश्किल हो जाती है। अध्यात्म आपको समझाने के लिए है कि किसी को मध्यस्थ या बिचौलिया बनाने की ज़रूरत नहीं है। ख़ासतौर पर ऐसे तो किसी को मत ही बना लो जो बीच में आकर अड़ंगा डालेगा, जो बीच में आकर राह को और कंटकाकीर्ण कर देगा।

'आत्मा के अतिरिक्त जो कुछ भी है, उसे सत्य मत मान लेना, अर्जुन। और अगर वो सत्य नहीं है, तो उसके प्रति इतनी आसक्ति क्यों दर्शा रहे हो? आत्मा एकमात्र है जो अविनाशी है। सत्य एकमात्र है जो पूजनीय है। बाक़ी किसी भी वस्तु, विचार, भावना के लिए तुम इतना मूल्य क्यों दर्शा रहे हो?'

सब अनित्य है और उसकी सार्थकता ही इसी में है कि वो नित्य की ख़ातिर मिट जाए। जो कुछ भी अनित्य है आपके भीतर और आपके परितः, उसकी सार्थकता ही इसी में है कि उसको मिटा दो, एक संसाधन की तरह उसका उपयोग कर लो, जो नित्य है उस तक पहुँचने के लिए। अमूल्य तक पहुँचने के लिए मूल्यहीन की यदि बलि देनी पड़े तो ये कोई घाटे का सौदा तो नहीं।

आ रही है बात समझ में?

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।

नित्य, अविनाशी प्रत्याक्षादि प्रमाणों के अगोचर, शरीर धारण करने वाले इस जीवात्मा के ये सब शरीर विनाशशील कहे गये हैं। हे अर्जुन, अतएव तुम युद्ध करो।

~ श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक १८

"नित्य,अविनाशी प्रत्याक्षादि प्रमाणों से अगोचर माने अतीत, माने अनुपलब्ध, शरीर धारण करने वाले इस जीवात्मा के ये सब शरीर विनाशशील हैं। अर्जुन, युद्ध करो।"

ये जो तुमको शरीर दिखायी दे रहे हैं, इनकी सार्थकता ही इसी में है कि ये सत्य की ख़ातिर मिट जाएँ। तुम कोई अन्याय नहीं कर रहे, तुम कोई क्रूरता नहीं कर रहे। जो तुम कर रहे हो, वो उनके लिए भी सही है जो तुम्हारे हाथों मारे जाएँगे। नित्यता की राह में जो कुछ भी आता हो उसका मिट जाना ही शुभ है।

मिटना दो प्रकार से हो सकता है। वो पूरे तरीक़े से बदल जाए तो भी मिट गया। उदाहरण के लिए, कल्पना कीजिए कि दुर्योधन को धृतराष्ट्र, द्रोण, भीष्म, विदुर आदि सब मिलकर समझाते और दुर्योधन का बड़ा गहरा अन्तस परिवर्तन हो जाता और दुर्योधन कहता कि युद्ध आदि तो बेकार की बातें हैं, राज्य का मुझे करना क्या है। सब भाई आओ आपस में शान्तिपूर्वक, मिल-बाँटकर रहते हैं। दुर्योधन यदि ऐसा हो जाता तो दुर्योधन मिट जाता, एकदम ही कुछ और हो जाता न। ये रास्ता श्रेष्ठतर है।

अनित्य की राह में जो कुछ भी आये उसे मिटाना तो है ही, पर मिटाने का ये एक उच्चतर रास्ता है। वो व्यक्ति कुछ इतनी गहराई से बात को समझ गया कि भीतर से कुछ दूसरा ही हो गया। वो व्यक्ति वो पुराना व्यक्ति रहा ही नहीं, वो मिट गया। यदि ऐसा सम्भव होता तो इससे बेहतर कुछ नहीं। बस इसमें एक बाधा है, बाधा ये कि आप बलात् किसी को बदल नहीं सकते।

मनुष्य को चुनाव की सुविधा उपलब्ध है और उससे ये छूट छीनी नहीं जा सकती। चेतना कितनी भी भ्रष्ट हो, कितनी भी गिरी हुई हो, चुनाव का अधिकार, स्वेच्छा का अधिकार उसके पास सदैव रहता है, आप उससे छीन नहीं सकते। वो जब बदलेगी तो स्वेच्छा से ही बदलेगी, नहीं तो नहीं बदलेगी। तो दुर्योधन की यदि स्वेच्छा नहीं हो रही है बदलने की, तो आप क्या करोगे?

लेकिन हमने पहली बात ये कही कि नित्य की राह में जो कुछ भी आये, उसका मिटना ही भला है। वो स्वेच्छा से मिट जाए, वो आतंरिक रूप से मिट जाए, ये हमने कहा, श्रेष्ठतर बात होती। पर वो नहीं मिट रहा है आंतरिक रूप से, वो बदलने को नहीं तैयार है तो और अब बताओ विकल्प क्या है? सूक्ष्म मृत्यु अगर उसकी हो जाती स्वेच्छा से, तो क्या बात थी। सूक्ष्म मृत्यु के लिए वो प्रस्तुत नहीं है, फिर स्थूल मृत्यु के अलावा कोई विकल्प नहीं बचता। स्थूल हो या सूक्ष्म, होनी तो मृत्यु ही है, क्योंकि जो विनाशी है उसका विनाश नहीं होगा तो और क्या होगा।

क्यों हम सूक्ष्म मृत्यु को श्रेष्ठतर कह रहे हैं? क्योंकि जब सूक्ष्म मृत्यु होती है तो जीव के लिए आनन्द खुल जाता है। स्थूल मृत्यु में अब जीव बाधा बनकर तो नहीं खड़ा रह जाता धर्म के सामने, लेकिन आनन्द जैसी भी कोई चीज़ उसे मिल नहीं पाती।

दूसरी बात, सूक्ष्म मृत्यु में दुर्योधन के सामने खड़े अर्जुनों को इतना धर्मसंकट नहीं झेलना पड़ता। अर्जुन यदि अपने वचन मात्र से दुर्योधन को भीतर से मार दें, तो अर्जुन को इतनी विह्वलता, इतना धर्मसंकट नहीं होगा। पर जब किसी

को स्थूल, दैहिक मृत्यु देनी पड़ती है तो भीतर से बड़ा शोक उठता है, क्योंकि हम सब अपनेआप को देह मानते हैं न। क्योंकि हम अपनेआप को देह मानते हैं इसीलिए जब हम किसी की देह को मिटते देखते हैं तो हमें अपने मिटने का विचार आता है। हमें हमारी नश्वरता याद आ जाती है। क्योंकि जो मिट रहा है, शारीरिक तल पर तो हम भी उसी के जैसे हैं बिलकुल। तो फिर भीतर बड़ा आक्रोश, बड़ा कोलाहल, बड़ी उद्विग्नता उठती है।

तो इसीलिए सेनाओं के काम से ज़्यादा महत्वपूर्ण होता है सन्तों का काम। सेनाएँ भी मिटाती हैं, सन्त भी मिटाते हैं, पर सन्त मिटा देते हैं सूक्ष्म रूप से और सेना कितनी भी धर्मपरायण हो, वो मिटाती स्थूल रूप से है। न सिर्फ़ सेना स्थूल रूप से मिटाती है, अधिकांशतः सेनाएँ अधर्म को मिटाती नहीं हैं, अधर्म को जिताती हैं। क्योंकि धर्म के पक्ष में सेना जुटी हो, ऐसा कम ही देखने को मिलता है।

आप मानव इतिहास देख लीजिए। दो सेनाएँ आपस में युद्ध कर रही हैं, वो युद्ध अक्सर धर्म और अधर्म का नहीं होगा। वो युद्ध अधर्म और अधर्म का होगा, वो युद्ध लालच और लालच का होगा। महाभारत एक विशेष स्थिति है जिसमें एक ओर कृष्ण हैं और दूसरी ओर शकुनि इत्यादि। सारे युद्ध ऐसे नहीं होते। ज़्यादातर युद्धों में दोनों तरफ शकुनि ही बैठे होते हैं। और कुछ अन्तर नहीं पड़ता है मानवता को कि कौनसा पक्ष जीत रहा है। साँपनाथ और नागनाथ की लड़ाई चल रही है, कोई भी जीते, जीता तो ज़हर ही।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्। उभौ तौ विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।

जो व्यक्ति आत्मा को मारने वाला जानता है और जो व्यक्ति उसे मृत समझता है, वह दोनों ही नहीं जानते। न आत्मा मारता है न मरता है।

~ श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक १९

तो आत्मा से नहीं बात हो रही है, अर्जुन से बात हो रही है। जब कहा जा रहा है, 'अर्जुन मारो', तो अर्जुन को कहा जा रहा है 'मारो'। क्योंकि अभी तो बता दिया न, आत्मा तो मारता नहीं; आत्मा न हत करता है न हत होता है। और साथ-ही-साथ कृष्ण कह रहे हैं अर्जुन को, 'तुम तो मारो।' तो स्पष्ट हो जा रहा है कि कृष्ण किससे बात कर रहे हैं। कृष्ण आत्मा से नहीं, कृष्ण अर्जुन रूपी अहम् से बात कर रहे हैं, अहम् है जिसने अर्जुन का रूप ले रखा है।

अगर आत्मा से बात कर रहे होते तो कैसे कह देते आत्मा को कि मारो, जब कृष्ण ख़ुद ही यहाँ पर कह रहे हैं कि आत्मा न मरता है न मारा जाता है। अहंकार से बात कर रहे हैं, अहंकार को समझा रहे हैं कि उसके लिए क्या बेहतर है, क्या श्रेयस्कर है।

जो सोचे कि आत्मा कुछ भी करता है, भ्रम में है। जो सोचे कि आत्मा किसी के भी करे का फल भोगता है, वो भी भ्रम में है। ये सारे कार्य, सारे कारण आत्मा को पाने की लालसा में किये जाते हैं। आत्मा स्वयं अकर्ता है, आत्मा को कुछ नहीं करना। आत्मा मन की आख़िरी सन्तुष्टि का नाम है जहाँ कुछ भी करने की कोई आवश्यकता शेष नहीं रहती। मन के लिए आवश्यक है कि मारे और मन के लिए ही आवश्यक है कि मरे भी। ये सब उपाधियाँ मन की हैं, इनमें आत्मा कहीं नहीं।

वास्तव में ये जितनी चर्चा हो रही है, इसमें आत्मा का इतनी बार उल्लेख है लेकिन इस पूरी चर्चा में आत्मा प्रासंगिक ही नहीं है। अनूठी बात है, इसको समझिएगा। क्योंकि आत्मा को युद्ध करना नहीं है, आत्मा न इस तरफ़ है न उस तरफ़ है। आत्मा न बाण चलाने वालों की ओर है न बाण खाने वालों की ओर है। आत्मा को कुछ सुनना नहीं है, आत्मा को कुछ सुनाना नहीं। आत्मा को जन्म नहीं लेना, आत्मा को मरना नहीं। तो कृष्ण-अर्जुन संवाद में आत्मा का महत्व क्या है? एक प्रकार से कुछ नहीं, एक प्रकार से सबकुछ।

बात सारी अहंकार से हो रही है, 'तुम वो करो जिसमें तुम्हारी भलाई है।' हाँ, अहंकार को समझाने के लिए आत्मा बड़ा महत्वपूर्ण शब्द है। अहंकार को ये स्मरण दिलाने के लिए कि उसकी भलाई उसके अतिरिक्त है कहीं, उसके बाहर है कहीं, उससे अलग हैं कहीं, आत्मा बड़ा महत्वपूर्ण शब्द है। तुम्हें तब तक बेहतर होते रहना है, अहम्, जब तक तुम पूरे ही कुछ और न हो जाओ। और जब तुम पूरी तरह कुछ और हो जाओगे तो हम तुम्हें अहम् बोलें क्यों? जब तुम एक प्रतिशत भी वो नहीं रह जाओगे जो तुम अभी हो, तब हम तुम्हें तुम्हारे पुराने नाम से पुकारें क्यों?

तो इसलिए हम तुम्हें कह रहे हैं बार-बार आत्मा, आत्मा, आत्मा ताकि तुम्हें स्मरण रहे कि तुम्हें इतना बदलना है, इतना बदलना है कि पुराने जैसा तुममें रंचमात्र भी कुछ शेष न रहे। आत्मा शब्द की ये उपयोगिता है।

समझ में आ रही है बात?

"नायं हन्ति न हन्यते।" न मारने में सत्य है, न मरने में सत्य है। हाँ, यदि इस तरह मार सको और यदि इस तरह मर सको कि तुम सत्य की ओर आगे बढ़ोगे, तो ज़रूर मार देना, तो मर भी लेना। साधन और साध्य में अन्तर करना सीखो।

न तो ये कह देना कि मेरी आत्मा अभी अस्त्र चला रही है, न कभी ये कह देना कि इतनी आत्माएँ हैं जिनकी मृत्यु हो गयी और न कभी ये कह देना कि ये सब कुछ जो हो रहा है, इससे आत्मा का बिलकुल ही कोई सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों ही बातें ग़लत हो जाएँगी।

समझ में आ रही है बात?

देखो, इस पूरी चर्चा में जो प्रश्न छुपा हुआ है, जो मुद्दा मुझे बार-बार उघाड़कर सामने रखना पड़ता है, वो ये है कि कृष्ण हैं कौन और अर्जुन हैं कौन। कृष्ण इस जगह पर मुखर आत्मा हैं। आत्मा निर्गुण है, आत्मा बोलती नहीं, पर कृष्ण मुखर आत्मा हैं, इसीलिए उन्हें अवतार कह रहे हैं। वो ऐसी आत्मा हैं जो बोल देते हैं। अर्जुन अहंकार हैं। कृष्ण एक प्रकार से आत्मा को वाणी दे रहे हैं, आत्मा का प्रतिनिधित्व कर रहे हैं। और अर्जुन किंकर्तव्यविमूढ़ अहंकार हैं, जो कृष्ण की ओर भी खिंच रहे हैं, माने आत्मा की ओर भी खिंच रहे हैं और प्रकृति की ओर भी खिंच रहे हैं, माने अपने बंधु-बाँधवों की ओर भी खिंच रहे हैं। ये झूला झूल रहे हैं अर्जुन।

गीता हमें बताने के लिए है कि हमारे जीवन में लगातार क्या चल रहा है। और अगर हम ये जान लें कि लगातार क्या चल रहा है तो कृष्ण का सन्देश उपलब्ध हो जाता है। कृष्णत्व हमसे कभी भी दूर नहीं है। हम सबकी स्थिति अर्जुन जैसी ही है। हम सबकी स्थिति अर्जुन जैसी ही है तो हम क्या इतना ही कहकर के चुप हो जाएँगे कि हम सब कौरवों से घिरे हुए हैं, हम सब अपने रक्त सम्बन्धियों और मोह और आसक्ति और भ्रम से घिरे हुए हैं? नहीं।

अर्जुन इन सब से तो घिरे ही हुए हैं लेकिन इन सब के साथ-साथ अर्जुन के पास और क्या है? कृष्ण भी तो हैं। अगर हम सब अर्जुन हैं तो हमारे पास बस भीम, नकुल, सहदेव और द्रौपदी और राज्य की चिन्ता और तमाम तरह के दुश्मन, यही भर तो नहीं होंगे न। हमारे पास फिर कृष्ण भी होंगे।

तो गीता आपको यही बताने के लिए है कि आपकी सब चिन्ताओं के साथ-साथ जो आपकी चिन्ताओं को नष्ट कर सकता है, वो भी आपको उपलब्ध है। आपको चुनाव करना है, आपको सुनना है और आपको मूल्य चुकाने को तैयार रहना है। आपको सहना पड़ेगा। अर्जुन के एक ओर हैं माँ प्रकृति जो कह रही हैं, ‘मेरे बहाव में बहो’, और दूसरी ओर कृष्ण हैं जो कह रहे हैं, ‘मेरी ओर बढ़ो और रास्ते में जो भी आता है, उसे सहो।’

आ रही है बात समझ में?

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।

यह आत्मा कभी जन्म ग्रहण नहीं करता या मरता भी नहीं है अथवा ऐसा भी नहीं कि एक बार होकर फिर नहीं होता। जन्म-रहित, मृत्यु-रहित, नित्य तथा सनातन यह आत्मा देह के हत होने पर अर्थात नष्ट होने पर हत नहीं होता।

~ श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक २०

अब जब मैं ये पढ़ रहा हूँ, तो मुझे ये बड़ी हस्यास्पद विडम्बना लग रही है कि श्रीमद्भगवद्गीता का ही दुरुपयोग करके सनातनियों के एक बड़े वर्ग ने ये सिद्ध करने की लगभग सफल चेष्टा की है कि आत्मा का बार-बार जन्म होता है। और आत्मा कभी शान्त होती है, कभी अशान्त होती है, और आत्मा यहाँ है, और आत्मा वहाँ है, और जन्म से पहले आत्मा शरीर में प्रवेश लेती है, जन्म के बाद आत्मा कहीं और चली जाती है।

सनातनी जो धारणाएँ रखते हैं अगर वो सब सही हैं तो फिर कृष्ण यहाँ क्या कह रहे हैं कि ये आत्मा कभी जन्म ग्रहण नहीं करता। आत्मा तो कभी जन्म लेता ही नहीं है। न ऐसा है कि एक बार होकर फिर नहीं होता। आत्मा का एक भी जन्म नहीं है। ये भी नहीं है कि पहला जन्म हुआ है उसके बाद नहीं होंगे। कृष्ण एकदम स्पष्ट करे दे रहे हैं, आत्मा का कोई जन्म नहीं है, कोई मृत्यु नहीं है। पहला ही जन्म नहीं है, पुनर्जन्म कैसे हो जाएगा? आत्मा का तो पहला ही जन्म नहीं होता, आत्मा का पुनर्जन्म कैसे हो जाएगा?

“जन्म-रहित, मृत्यु-रहित, नित्य तथा सनातन यह आत्मा देह के हत होने पर अर्थात नष्ट होने पर हत नहीं होता।” माने देह से इसका सम्बन्ध नहीं है। देह से आत्मा का कोई सम्बन्ध ही नहीं है, लेकिन सनातनियों में बड़ी पुरानी धारणा रही है कि आत्मा देह के भीतर अवस्थित होती है कहीं। कि देह में आत्मा होती है और जब आप मरते हो तो आत्मा फुर्र से उड़ जाती है और फिर जाकर किसी और गर्भ में बैठ जाती है। गीता न पढ़ने का ये दुष्परिणाम होता है।

समझेंगे, अभी आगे बढ़ेंगे, आत्मा और जीवात्मा में बहुत अन्तर है। आत्मा एकमात्र सत्य है, जीवात्मा एकमात्र झूठ है। जीवात्मा प्रकृति है, आत्मा परमपुरुष-परमात्मा है। आत्मा एकमात्र सत्य है। आत्मा को ही परमात्मा कहते हैं, आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है।

जब कुछ लोग शंकित होने लगे, भ्रमित होने लगे, आत्मा को ही जीवात्मा समझने लगे, तो फिर अन्तर करने के लिए कहा गया, नहीं-नहीं-नहीं-नहीं, जीवात्मा नहीं, शुद्ध वाली आत्मा। तो कहा गया परम-आत्मा। तो ऐसे मान लिया गया कि दो तरह की आत्माएँ होती हैं — एक अशुद्ध वाली, जिसे आम आदमी आत्मा समझता है, उसको नाम दे दो ‘जीव-आत्मा’, और एक शुद्ध वाली, उसको नाम दे दो परम-आत्मा। पर वास्तव में आत्मा एक ही है, आत्मा माने आत्मा।

सत्य को आत्मा कहते हैं। आत्मा का देह से कोई सम्बन्ध नहीं। देह में आत्मा नहीं बैठी है, देह में चेतना बैठी है। देह में चेतना बैठी है, देह में आत्मा नहीं बैठी है। और आत्मा एक है, आत्मा अनेक नहीं हैं; आत्माएँ जैसा कोई शब्द होता नहीं। किसी के शब्दकोश में यदि आत्मा का बहुवचन मौजूद है, कह रहा है ‘आत्माएँ’, तो उस व्यक्ति को आध्यात्मिक तल पर निरा मूर्ख ही जानना।

इसी तरीक़े से यदि कोई इस प्रकार के वाक्य बता रहा है, 'आत्मा का परमात्मा से मिलन' या 'आत्मा की शान्ति के उपाय', तो इस व्यक्ति को भी आध्यात्मिक क्षेत्र में अनपढ़ ही जानना। आत्मा का परमात्मा से कौनसा मिलन? आत्मा का ही दूसरा नाम परमात्मा है। आत्मा की शान्ति के कौनसे उपाय? आत्मा अशान्त कहाँ से हो जाएगी? शान्ति का ही दूसरा नाम आत्मा है। और आत्मा के अतिरिक्त कोई सत्य नहीं, तो आत्मा को अशान्त करने आएगा कौन? कौन इतना बड़ा हो गया कि आत्मा को अशान्त कर जाएगा? ये वही बात है, कोई बोले कि ब्रह्म अभी अशान्त चल रहा है। किसने कर दिया? ये ब्रह्म के बराबर का कौन खड़ा हो गया?

समझ में आ रही है बात?

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्। कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।

जो इस आत्मा को अविनाशी, नित्य, त्रिकाल में परिणाम-शून्य, जन्म-रहित, क्षयशून्य जानता है, हे पार्थ, वह व्यक्ति किस प्रकार किसका वध कराता या किसका वध करता है?

~ श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक २१

सत्य एकमात्र स्थायी बिन्दु है। बाक़ी सब बह ही रहा है। तुम ये नहीं कर पाओगे, पार्थ, कि जो बह रहा है उसको बहने से रोक दो। हाँ, तुम इतना ज़रूर कर सकते हो कि अपनी स्वेच्छा से बहाव को एक सही दिशा दे दो। जो विधर्मी हैं तुम उन्हें यदि मारने से कतरा रहे हो तो भी तुम उन्हें बचा तो नहीं पाओगे, उनका नाश होना तो निश्चित है क्योंकि वो विधर्मी हैं। हाँ, तुम इतना ज़रूर कर सकते हो कि तुम स्वयं धर्म की रक्षा से पीछे न हटो और धर्म के लिए जो कुछ भी आवश्यक है, वो सबकुछ करो।

याद रखो, तुम यहाँ जो कुछ भी कर रहे हो, तात्विक दृष्टि से वो बहुत अर्थ नहीं रखता। क्योंकि आत्मा परिणाम-शून्य है, आत्मा पर कारणता लागू नहीं होती। वहाँ कुछ नहीं हो रहा, तुम्हारा कोई बाण आत्मा तक नहीं पहुँच रहा। यहाँ जो कुछ भी हो रहा है, आत्मा के देखे तो वो सब कुछ हो ही नहीं रहा। आत्मा को यदि सर्वज्ञ बोलो तो आत्मा को महाभारत के युद्ध का कोई ज्ञान नहीं होगा क्योंकि आत्मा के देखे महाभारत जैसा कोई युद्ध हो ही नहीं रहा।

ये है मूल्य लाखों लोगों के इस संघर्ष का — तात्विक दृष्टि से ये संघर्ष हो ही नहीं रहा। ये इतना मूल्यहीन है कि किसी आत्मस्थ से पूछोगे तो कहेगा, 'हो ही नहीं रहा।' और ये बड़ी मज़ेदार बात है। आत्मस्थ को हम सर्वज्ञ भी बोलते हैं, वो सबकुछ जानता है। वो सबकुछ जानता है, इसीलिए वो ये जानता है कि इस युद्ध जैसा कुछ हो नहीं रहा। जो कम जानते हैं, उन्हें लगेगा हो रहा है। जो पूरा जानते हैं, वो कहेंगे, 'कुछ नहीं हो रहा।'

‘तुम क्यों अपने पात्र, अपने किरदार को इतनी गम्भीरता से ले रहे हो अर्जुन? क्यों इतना शोक कर रहे हो? एक रंगमंच पर खड़े हुए हो। इस समय तुम्हारे लिए जो उचित है, बस वो करो। जो लोग यहाँ रंगमंच पर विजयी होंगे, वो विजयी हुए नहीं, जो हारेंगे वो हारे नहीं, जो मारेंगे उन्होंने मारा नहीं, जो मरेंगे वो मरे नहीं। हाँ, तुम यदि अपना किरदार ठीक से नहीं निभाओगे तो खेल ज़रूर ख़राब कर दोगे, करना हो तो करो।’

‘फिर तो तुमसे बेहतर दुर्योधन है, उसको दुर्योधन का चरित्र मिला है, उसको वो बखूबी निभा रहा है, दुर्योधन तो पूरा-पूरा दुर्योधन है। उसको कहा गया है कि जितने तरीक़े की बुराइयाँ हो सकती हैं, बेटा वो तुम्हें अपने में दर्शा देनी हैं। तो दुर्योधन तो शत-प्रतिशत दुर्योधन है। अर्जुन, तुम ही कमज़ोर साबित हुए जा रहे हो। दुर्योधन को कहा गया है कि तुम वहाँ धर्म के विरुद्ध एकदम टिके रहना, गदा तुम्हारी कँपनी नहीं चाहिए, और दुर्योधन बिलकुल टिका हुआ है। उसके सब भाई अपने चरित्र के साथ न्याय कर रहे हैं। और तुम अर्जुन, तुम्हारे हाथ काँप रहे हैं!’

‘सच तो ये है कि अभी अगर तुम रथ से उतरकर भाग जाओगे कि नहीं ही लड़ूँगा, तो भी कुछ हो नहीं जाएगा। आत्मा के क्षेत्र में कभी कुछ होता नहीं, कभी कुछ बिगड़ता नहीं, कभी कुछ सम्भलता नहीं। बस खेल ख़राब हो जाएगा।’

खेल ख़राब होने का अर्थ क्या होता है? जब खेल में दुख फैल जाए, उसको खेल की ख़राबी कहते हैं। तुम ठीक से नहीं खेलोगे तो दुख बहुत फैल जाएगा इस दुनिया में। उस दुख के फैलने से भी आत्मा पर कोई अन्तर नहीं पड़ जाना है। तुम्हें सुख अनुभव हो, तुम्हें दुख अनुभव हो, आत्मा को कुछ अनुभव नहीं होता। आत्मा की दृष्टि से तो जीव है ही नहीं, जीव का कोई अस्तित्व ही नहीं है। आत्मा की दृष्टि से तो जीव का अधिक से अधिक ये प्रयोजन है कि वो मिट जाए।

तुम पूछोगे यदि आत्मा से, ’मैं क्या करूँ?’, तो उत्तर कुछ आएगा नहीं, क्योंकि आत्मा की दृष्टि तुम्हारा संज्ञान ही नहीं लेगी क्योंकि आत्मा अनन्त है, आत्मा अद्वैत है — दूसरा कोई होता नहीं आत्मा के अतिरिक्त। तो आत्मा तुम्हारा संज्ञान कैसे ले? आत्मा को तुम दिखोगे ही नहीं। लेकिन यदि आत्मा तुम्हें देख भी ले और तुमने पूछा हो कि मैं क्या करूँ? मुझे आत्मस्थ होना है। तो बड़ा संक्षिप्त सा उत्तर आएगा, क्या? ‘मिट जाओ।’ मिट जाओ।

आत्मा की दृष्टि में जीव का इतना ही महत्व है अधिक से अधिक, 'मिट जाओ।’ तो राम जीतें, रावण जीते, दुर्योधन जीते, युधिष्ठिर जीते, आत्मा को क्या अन्तर पड़ना है? हाँ, तुम यदि सही काम करोगे तो ये तुम जितने इन जीवों को यहाँ इकट्ठा देख रहे हो, ये सब जीव और धरा पर जितने अन्य जीव हैं, उन पर सही अन्तर पड़ेगा। तो लड़ जाओ अर्जुन!

एक गहरी असंपृक्तता का सन्देश है यहाँ पर — मारो भी तो तुम्हें पता हो कि इसमें कुछ गम्भीर नहीं, कहाँ मारा

मैंने। मर भी जाओ तो तुम कहो, 'कुछ इसमें गम्भीर नहीं, मर भी गया तो क्या!'

जीवन को ज़रा हल्के में लेना है। जीवन को हल्के में तब लेना है जब जो वास्तविक है उसके प्रति एक गम्भीरता रखो और उसके अतिरिक्त किसी भी चीज़ के प्रति कोई गम्भीरता नहीं रखनी है। फिर जीवन में एक सहज माधुर्य आ जाता है। जीवन एक छोटी सी चिड़िया की तरह हल्का हो जाता है। वो फुदक-फुदककर इधर-उधर करती है न, फिर उड़ भी जाती है, ऐसे हो जाते हो। भारीपन मिट जाता है।

'जो सही है, जिसमें सार है, जिसमें कृष्णत्व है, उसके हो गये हम। अब बाक़ी सबकुछ खेल सा लगता है, हम उसको बहुत गम्भीरता से नहीं ले सकते। खेल में तो बस यही है कि जो नियम हैं खेल के, उनका पालन करो; थोड़ा मनोरंजन हो जाएगा, आगे बढ़ो। और इस युद्ध, इस युद्ध के खेल के ये नियम हैं पार्थ, कि जो मेरी तरफ़ हो उसको जीतना चाहिए, जो दूसरी तरफ़ हो उसको हारना चाहिए। जो मेरी तरफ़ हो, वो जीते न जीते, उसे लड़ना ज़रूर चाहिए। उसके लड़ने में ही उसकी जीत है। यही नियम हैं पार्थ, खेल मत ख़राब करो।'

शून्यता या संग्राम?

प्रश्नकर्ता: प्रणाम, आचार्य जी! कल के सत्र में आपने गौतम बुद्ध जी का ज़िक्र किया, गौतम बुद्ध जी कहते हैं कि शून्य हो जाओ। माने आपको किसी भी घटना का फ़र्क नहीं पड़ना चाहिए।

साहब कहते हैं:

कबीरा तेरी झोपड़ी, गल कटीयन के पास। जैसी करनी वैसी भरनी, तू क्यों भया उदास।।

~ कबीर साहब

आपने कहा है कि चुप मत बैठो, असत्य का विरोध करो, संग्राम करो। कृपा करके इन दोनों बातों में अन्तर्सम्बन्ध समझाएँ।

आचार्य प्रशांत: बुद्ध जब कहते हैं कि शून्य हो जाओ, तो शून्यता का मतलब होता है खालीपन, रिक्तता। कुछ न होने को कहते हैं शून्यता। तो बुद्ध को क्यों समझाना पड़ा कि बच्चा, शून्य हो जाओ। बुद्ध क्या ये बात शून्य को समझाएँगे कि शून्य हो जाओ? बुद्ध को क्यों समझाना पड़ा और किसको समझाना पड़ा कि शून्य हो जाओ? अरे! सीधी सी चीज़ है, बताइए।

जो कुछ हम हैं उसमें बुद्ध ने कुछ गड़बड़ देखी होगी तो उन्होंने कहा, 'ये जो तुम बने बैठे हो, ये मामला नकली है, गड़बड़ है, खोखला है और दुख-कारक है। तुम शून्य हो जाओ।' इसी को मैं कहता हूँ — असत्य के प्रति संग्रामरत रहो। बुद्ध कह रहे हैं, 'कचरा हटाओ, खाली हो जाओ।' मैं कह रहा हूँ असत्य हटाओ, जो शेष बचेगा वही सत्य है।

बात समझ में आ रही है?

बुद्ध की भाषा बड़ी शीतल है, शालीन है; मेरी भाषा रूखी है, लड़ाई-झगड़े की है। वो बहुत प्यार से कह देते हैं — शून्य हो जाओ। मैं ज़रा रगड़कर कहता हूँ कि उठो, भिड़ो, और जहाँ कहीं भी असत्य देखो, झूठ देखो, उसको निकाल बाहर करो, संग्राम करो। ठीक है? इन दोनों का सम्बन्ध साफ़ दिख गया?

इन दोनों का दिखा कि नहीं? अभी कबीर साहब पर आएँगे; इन दोनों का सम्बन्ध स्पष्ट है? नहीं हो तो बोलिए।

प्र: एक फ़र्क है जो मुझे अभी तक समझ नहीं आया है। वो ये है कि एक असत्य वो होता है जो हम अपने अन्दर रखते हैं कि मैंने बनावट बना रखी है, मैंने बन्धन बना रखे हैं, मुझे उसको काटना चाहिए। तो वो एक बात मुझे समझ में आती है। दूसरा ये है कि जो मेरे बाहर मुझे दिख रहा है ग़लत हो रहा है। तो बुद्ध इन दोनों में से किसकी बात कर रहे हैं?

आचार्य: दोनों की। लेकिन अध्यात्म में जब भी कोई बात कही जाएगी, वो सबसे पहले व्यक्ति के तल पर होती है। समाज अध्यात्म का प्राथमिक सरोकार नहीं है। ये अच्छे से समझिएगा। बुद्ध भी कहेंगे कि क्रान्ति चाहिए और मार्क्स भी कहेंगे क्रान्ति चाहिए, पर बुद्ध बात करेंगे आंतरिक क्रान्ति की और मार्क्स बात करेंगे बाहरी क्रान्ति की।

ये अलग बात है कि बुद्ध जिस आंतरिक क्रान्ति की बात करेंगे उसके कारण बाहरी क्रान्ति अपनेआप आ जाएगी। लेकिन बुद्ध की बात आप जब भी पढ़ें या अध्यात्म के क्षेत्र से किसी की भी बात आप जब भी पढ़ें, वो सबसे पहले आपके आंतरिक जगत के विषय में होती है। बाहर की बात होती है लेकिन बाद में।

शुरुआत बाहर से नहीं करनी है, शुरुआत भीतर से करनी है। फिर बाहर का खेल देख लेंगे। ऐसा नहीं कि अध्यात्म में बाहर की बात नहीं होती, पर प्राथमिक नहीं होती है, केन्द्रीय नहीं होती है।

बाहर की चीज़ों को भी महत्व दिया जाता है, उदाहरण के लिए, संगति ठीक रखो। ये बाहर की ही बात है कि भाई, किसके साथ हो। तो बाहर की बात होगी पर कभी भी पहले नहीं होगी। अध्यात्म का उद्देश्य है आंतरिक परिवर्तन। और आंतरिक परिवर्तन आएगा तो बाहरी परिवर्तन पीछे-पीछे अपनेआप चला आएगा। ठीक है? इन दोनों में सम्बन्ध स्पष्ट हो गया? बिलकुल साफ़ है बात।

अब आते हैं कबीर साहब की बात पर:

"कबीरा तेरी झोपड़ी, गल कटीयन के पास। जैसी करनी वैसी भरनी, तू क्यों भया उदास।।"

कबीर साहब कह रहे हैं — बाहर बहुत गन्दगी फैली हुई है, उस गन्दगी को क्या आवश्यक है भीतर प्रवेश दे देना? और जहाँ तक बाह्य जगत की बात है, उसमें तो तमाम प्रकृतिगत विकार रहेंगे ही रहेंगे। क्या आवश्यक है उनसे प्रभावित हो जाना?

असल में अगर आप बनारस जाएँगे, कबीर मठ, कबीर चौराहा जाएँगे, तो जहाँ रहा करते थे साहब उसके पास में सचमुच कसाइयों की बस्ती थी। और वो बकरा काटें, सूअर काटें और वहाँ से आवाज़ें भी आया करें। अब यहाँ पर साधुओं का जमघट, साहब का घर, लोग आयें मिलने-जुलने, बात करने और वहाँ से आवाज़ क्या आ रही है — पशुओं के कटने की। तो उस सन्दर्भ में ये कहा गया था।

हाँ, ये अलग बात है कि जब साहब बोलेंगे तो वो छोटी और साधारण बात भी बोलें तो उसके अर्थ व्यापक ही होंगे। वो कोई बहुत सीधी-सादी बाद भी बोलेंगे तो वो बात बहुत गहरी होगी, बड़े व्यापक अर्थ वाली होगी। तो बात आयी यहाँ से थी लेकिन उसके अर्थ व्यापक हैं।

क्या कह रहे हैं वो? बाहर से आ रही होंगी आवाज़ें, बहुत कुछ आ रहा होगा, तुम अपना ध्यान क्यों भंग होने देते हो? तुम अपना ध्यान क्यों भंग होने देते हो? तो कबीर साहब उस स्थिति की बात कर रहे हैं जब तुम साफ़ हो चुके हो भीतर से। वो कह रहे हैं — तुम साफ़ हो भीतर से, रिक्त हो गये हो, अब बाहर की गन्दगी को भीतर प्रवेश क्यों दे रहे हो?

मैं जो बात कह रहा हूँ, मैं एक गन्दे आदमी से कह रहा हूँ। मैं कह रहा हूँ, 'तू गन्दा है, जा नहा-धोकर आ, ज़िन्दगी के विरुद्ध संघर्ष कर, जा नहा-धोकर आ।' कबीर साहब उस आदमी से बात कर रहे हैं जो नहा-धोकर आ गया। उससे अब कह रहे हैं कि तू बाहर की धूल अपने ऊपर क्यों पड़ने दे रहा है।

"जैसी करनी वैसी भरनी, तू क्यों भया उदास।" बाहर जो कुछ चल रहा है, चले, तू उसकी उदासी अपने ऊपर क्यों आने दे रहा है?

बात समझ में आ रही है?

जब बुद्ध कह रहे हैं कि शून्य हो जाओ तो किससे कह रहे हैं? जो अभी गन्दगी से भरा हुआ है उससे कह रहे हैं कि शून्य हो जाओ, तुम्हारे भीतर गन्दगी है, शून्य हो जाओ।

कबीर साहब का ये जो दोहा है ये किसके लिए है? जो शून्य हो गया। देख नहीं रहे हैं इसमें आप, वो स्वयं को सम्बोधित कर रहे हैं। 'कबीरा' तेरी झोपड़ी — अपनेआप को सम्बोधित कर रहे हैं कि मैं तो शून्य हूँ ही, अब ये बाहर की गन्दगी अपने भीतर क्यों आने दूँ।

जब भी आप कभी इन आर्ष वचनों को पढ़ें, आध्यात्मिक साहित्य को पढ़ें तो ये सवाल सदा पूछिएगा — ये जो बात कही गयी है, ये कही किससे गयी है? क्योंकि ज़रूरी नहीं है कि हर बात आपके जैसी ही स्थिति वाले किसी व्यक्ति से कही गयी हो।

कबीर साहब अगर अपनेआप को सम्बोधित करके कहें कि भाई, तुम्हारी झोपड़ी ग़लत लोगों के पास है लेकिन प्रभावित होने की कोई ज़रूरत नहीं, तो ठीक है। क्योंकि वो कौन हैं? अरे भाई! वो साहब हैं। उनके आसपास कितनी भी गन्दगी रहेगी, वो उससे अछूते रह जाएँगे। आपकी झोपड़ी अगर गलकटियन के पास हो, तो आप भाग जाइए, आप अछूते नहीं रह पाएँगे।

अगर कबीर साहब कह रहे हैं, "कबीरा तेरी झोपड़ी" — 'ओ कबीर! तेरी झोपड़ी इन गलकटियन के पास है लेकिन अपनी करनी वो ख़ुद भुगतेंगे, तुम क्यों उदास हो रहे हो!' तो ये बात कबीर साहब पर बिलकुल सटीक है। उनके लिए उपयुक्त है, आपके लिए उपयुक्त बिलकुल भी नहीं है।

आप तो भली-भाँति जानते हैं न, कि आप कितने ज़्यादा ख़तरे में हैं, आप कितने वल्नरेबल (असुरक्षित) हैं, आप पर संगति का कितना असर पड़ता है। अगर आपकी संगति गलकटियन की हो गयी तो आप गलकटियन जैसे ही हो जाओगे। गलकटियन माने कौन? गला काटने वाले, हिंसक, क्रूर लोग।

आप की झोपड़ी अगर उनके पास है तो आप बिलकुल उन्हीं के जैसे हो जाओगे। तो ये तर्क मत देने लग जाइएगा कि देखो, कबीर साहब ने कहा है कि वे अपनी करनी ख़ुद भुगतेंगे, हमें क्या फ़र्क पड़ता है!

आपको फ़र्क पड़ता है। अपना जीवन देखिए, पड़ता है कि नहीं पड़ता है? जिसकी संगत में होते हैं उसका असर होता है न?

आयी बात समझ में?

जीतू मुर्गे की अमर कहानी

आचार्य प्रशांत: मैं इंदिरापुरम की ओर से निकल रहा था, तीन-चार साल पहले की बात है। अचानक मेरी गाड़ी के सामने दौड़ता हुआ एक मुर्गा आ गया, मैंने ब्रेक मारा; वो बच गया। पीछे से उसका कसाई आया, उसने उसको उठा लिया और ले गया।

मैं गाड़ी लेकर थोड़ा आगे बढ़ा फिर मैंने कहा, 'नहीं, लौटना पड़ेगा।' मैं लौटा। जितनी देर में मैं लौटा, उतनी देर में वो दुकान ही बन्द कर गया था अपनी। उसके बगल की दुकान खुली थी। वहाँ लाइन से तीन-चार दुकानें थी, इसी की (मुर्गे के माँस बेचने की)। तो मैंने कहा, 'यह दुकान वाला कहाँ गया? मुझे कुछ चाहिए।' बोला, 'अभी बुला लाते हैं भाई को।' उसकी बिक्री हो रही है तो वो गया, वो कहीं पास में ही रहता था, उसको बुला लाया।

मैंने कहा, 'वो मुर्गा चाहिए मुझे जो अभी सड़क पर दौड़ा था।' तो बड़ा उसे ताज्जुब हुआ मुझे देखकर। बोला, 'आप भी!' मैंने कहा, 'नहीं, चाहिए। ले आ।' बोलता है, 'वो बड़ा गड़बड़ मुर्गा है। मैं दुकान बन्द कर रहा था और जितने बचे हुए मुर्गे थे आज के, उनको सबको एक में डाल रहा था, इतने में वो हाथ से छिटककर भाग गया। निकल ही जाता, बड़ा नुक़सान करा देता। वो ऐसा ही करता है।' मैंने कहा, 'नहीं, वही वाला चाहिए।' तो ले आया, दिया।

मेरा पहला अनुभव था किसी मुर्गे को छूने का। वो था भी ख़तरनाक। इधर-उधर, ऐसे-वैसे देखे, चोंच मारे, आवाज़ें करे, सब करता था — उद्दंड, विद्रोही मुर्गा। फिर मैंने उसको गाड़ी में बगल वाली सीट पर रखा और उसको बोधस्थल ले आया। रहा वो डेढ़-दो-ढाई साल क़रीब रहा। बढ़िया मस्त मुर्गा हो गया वो, आठ-दस किलो का। जो यहाँ संस्था से पुराने लोग बैठे हैं, उनमें से कोई ऐसा नहीं है जिसको उसने दौड़ाया न हो।

आपको अगर बोधस्थल में प्रवेश करना होता था, तो पहले उससे पार पाना होता था। वो खुला घूमता था पूरे में। नये आदमी को देख करके बिलकुल अनुमति नहीं देता था — 'तुम हो कौन? आ कैसे गये?' फोटो हैं, वीडियो हैं, जहाँ वो लोगों को दौड़ा रहा है। उसी दिन कट गया होता, नहीं बचना था उसको, पर उसने कुछ ऐसा करा जो ज़रा अलग था। जितनी भी उसमें जान थी उसने वो जान दिखायी।

तुम बहुत ज़्यादा नहीं कर सकते पर जितना कर सकते हो उतनी तो हिम्मत दिखाओ न! 'हिम्मत-ए-मुर्गा, मदद-ए-ख़ुदा।' तुमने उतनी भी हिम्मत दिखायी जितनी एक मुर्गा दिखा सकता है? वो छूटकर भागा, वो सड़क की तरफ़ आ गया कि गाड़ी से कुचलकर मर जाऊँगा तो मर जाऊँगा, पर इसके साथ रहना मंज़ूर नहीं है। गाड़ी हो सकता है उसे कुचल ही देती, हो सकता है मेरे ही टायर के नीचे आ जाता; पर नहीं आया।

मदद मिलती है, सहारे आते हैं, चमत्कार होते हैं, थोड़ा भरोसा तो रखो। और नहीं होंगे चमत्कार तो अधिक-से-अधिक क्या होगा? मर ही तो जाओगे! मर तो वैसे भी रहे थे वहाँ। एक रात वो और जी लेता तो क्या होता? अगले दिन कटता। और याद रखना मैंने भी वहाँ उससे नहीं कहा कि यह तेरे पास जितने मुर्गे हैं सब मेरी गाड़ी में डाल दे। एक ही बचा। कौनसा बचा? जिसने हिम्मत दिखायी। वो जितना कर सकता था उसने किया, उसके आगे का काम ख़ुदा का।

बात समझ में आ रही है?

इसमें ज़्यादा तुक और तर्क नहीं लगाये जाते, बैठकर के बहुत व्यावहारिक ज्ञान नहीं बघारा जाता कि मैं तो मुर्गा हूँ, मेरी हैसियत क्या? मैं तो फँस गया हूँ। बाहर जाकर होगा क्या? अरे! क्या होगा क्या नहीं होगा हमें नहीं पता, हम दौड़ पड़े। सोचो, वो बड़ी व्यस्त सड़क है और क़रीब नौ-साढ़े-नौ का वक़्त था — व्यस्त सड़क पर एक मुर्गा दौड़ा जा रहा है।

जीतू नाम रखा था हमनें उसका। असल में उसका नाम जीतू नहीं था — 'जी टू' था, 'जी टू' और जी टू माने *जी-जी*। जी-जी माने? वो मैं वाईटी ज्वाइन पर बताऊँगा, स्ट्रिक्टली ऑन्ली फॉर मेम्बेर्स (सिर्फ़ और सिर्फ़ यूट्यूब से जुड़े सदस्यों के लिए)।

भाई, जीतू की शान के ख़िलाफ़ है कि यूँही उसके बारे में कोई बात उड़ा दी जाए। जो लोग थोड़ा अपनापन दिखायें, जुड़ना चाहें उन तक ही उसकी बात पहुँचनी चाहिए न!

तो मुर्गे की मदद भी ख़ुदा तभी करता है जब वो पंख फड़ाफड़ा के, जान लगा के, कसाई के हाथों से छिटककर के सड़क पर दौड़ पड़ता है और कहता है, 'होगा जो होगा, देखा जाएगा। जो भी होगा, अभी जो हालत है, उससे बेहतर होगा।'

आयी बात समझ में।

मदद मिलती है, सहारे आते हैं, चमत्कार होते हैं, थोड़ा भरोसा तो रखो।

असफलता मिले तो न घबराना, न लजाना

प्रश्नकर्ता: नमस्ते, आचार्य जी। मैं आपको काफ़ी समय से सुन रहा हूँ, और आपको सुनने के बाद आपसे खुश नहीं हूँ। जब से मैंने आपको सुनना शुरू किया है, तब से मेरा पूरा जीवन अस्त-व्यस्त हो गया है। (दर्शकों की हँसी और तालियाँ)

मैं पहले जैसा जीवन जीता था और आपको सुनने के बाद मुझे जो कुछ सीखने को मिला है, मैं हमेशा उन दोनों के बीच में एकदम ऑसिलेट् -सा (डोलता) करता रहता हूँ। कई बार तो ऐसा हुआ है कि मुझे पता है कि ये ग़लत है, ये नहीं करना चाहिए, फिर भी मैं उनको करता हूँ।

आचार्य जी, मुझे कई-कई बार ऐसा लगता है कि कहीं मैं आपको फ़ेल (असफल) तो नहीं कर रहा? कहीं मैं आपके प्रति अनादर-असम्मान तो नहीं कर रहा? आपसे शान्ति मिलने की जगह मेरा मन इतना विरोध क्यों करता है आपका?

आचार्य प्रशांत: देखो, ये जो भी कुछ आप बता रहे हो, ये तो बड़ी बढ़िया बात है। ज़्यादा चिन्ता मुझे उनको देखकर होती है जो कहते हैं कि जबसे आपको सुना है, मौज ही मौज है। मैं कहता हूँ ख़ुद को सुनकर मुझे आज तक मौज नहीं आयी, तुम्हें कैसे आ गयी? (तालियाँ)

यहाँ तो जो सारा काम है, वही सड़ी-गली इमारतों को गिराने का और मलबा साफ़ करने का है। उसमें विध्वंस तो होगा ही न? चोट तो लगेगी न? और चोट नहीं सह सकते तो जवान काहे के लिए हो?

बार-बार मैं बोला करता हूँ कि मुझे युवाओं से बात करनी है। और कुछ अगर बुज़ुर्ग, बूढ़े लोग भी आ जाते हैं, मैं उनसे कहता हूँ कि दिल से तो जवान हो न, तभी मुझे सुनना, क्योंकि जो हम काम करने जा रहे हैं वो कमज़ोरों के लिए नहीं है।

ज़िन्दगी ही कमज़ोरों के लिए नहीं है। जो सबसे ऊँचा काम है वो कमज़ोर लोगों के लिए कैसे हो सकता है?

तो, जीवन अस्त-व्यस्त न हुआ होता तो ये समस्या की बात होती। अस्त-व्यस्त हो गया है तो खुशी मनाओ न! कोई पुरानी चीज़ है जो यूँही पड़ी हुई है, जंगल से उठाकर उसको हम ले आये हैं और अभी भी ज़िन्दगी में मौजूद है। उसको सहेजकर रखने में लाभ क्या है? हाँ, ये अलग बात है कि चूँकि वो पुरानी है इसलिए उससे आसक्ति है। जो चीज़ इतनी पुरानी होगी उससे मोह बैठ जाता है न, आदतों में शुमार हो जाती है। आदमी उसको पकड़कर रखता है, जब वो चीज़ जाने लगती है तो दो आँसू तो टपकते ही हैं, खलबली बहुत मचती है। और जिसने तुमको प्रेरणा दी होती है कि पुराने-सड़े माल से तौबा करो, हटाओ, वो आदमी बुरा भी बहुत लगता है।

मेरे ख़याल से शायद ज़ेन में है, जापान में है, या कहीं और, होगा कहीं। किसी मास्टर ने कहा था कि "वो डिसाइपल (शिष्य), डिसाइपल है ही नहीं, जिसके मन में कम-से-कम एक बार मास्टर की हत्या का ख़याल न आया हो।" क्योंकि अगर तुम पर सही में काम हो रहा है, तो वो जो काम है न, जो तुम पर हो रहा है, वो सर्जरी जैसा है, शल्यक्रिया, जिसमें सीधे दिल पर छुरी चलायी जाती है। तो उसमें ये हो कैसे जाएगा कि तुमको गुस्सा आएगा नहीं, या कि भीतर सब छितर-बितर होगा नहीं। वो तो होना ही होना है। तुम्हारा काम है उसको सहना, बर्दाश्त करना भई।

दो शब्द हैं भगवद्गीता के, बहुत मुझे पसन्द हैं। पहला, तितिक्षस्व। तितिक्षस्व माने जानते हो? तितिक्षा माने क्या होता है? जो इंसान ज़िन्दगी में बेहतर हो सकता है, मुक्त हो सकता है, ऊँचा बढ़ सकता है, उसके लिए अद्वैतवाद के आचार्य शंकर, भारत के अग्रणी चिन्तक, उन्होंने चार शर्तें रखी थीं। उन चार शर्तों को कहते हैं — साधन चतुष्टय। ठीक है? उन साधन चतुष्टय में एक शर्त होती है — षड् सम्पत। षड् सम्पत मतलब छ: तरीक़े की सम्पदा, माने छ: गुण। उनमें से एक होता है तितिक्षा।

तितिक्षा माने होता है सहने की क़ाबिलियत, झेल पाने का दम। अपनी भाषा में कहें तो सह जाने का जिगरा। जिसके पास वो नहीं है, उसके लिए मैं कह रहा हूँ जीवन ही नहीं है, मुक्ति तो बहुत दूर की बात है। ऐसा इंसान क्या जिएगा?

और जो दूसरा शब्द है गीता का जो मुझे बहुत पसन्द है, और ये दोनों एकसाथ चलते हैं। पहला, हमने कहा, तितिक्षस्व। दूसरा, युद्धयस्व। भिड़े रहो, पीछे नहीं हटना है। पीछे नहीं हटना है, और इसलिए गीता का इतना महत्व और इतना ऊँचा स्थान है।

नहीं तो वेदान्त के साथ ही हूँ, पूरा उसी में आप्लावित हूँ। मैं जानता हूँ कि अगर बिलकुल दर्शन के तल पर शुद्धता की बात करोगे तो गीता से आगे भी दो-चार ग्रन्थ हैं। अष्टावक्र गीता में जो मेरे साथ है, वो जानता होगा, अगर बिलकुल सिर्फ़ शुद्धता की बात करनी है तो अष्टावक्र आगे हैं। लेकिन फिर भी गीता बहुत ऊँची है।

इसलिए ऊँची है गीता क्योंकि उसमें जो बात कही जा रही है न, वो इंसान से इंसान के जीवन के सन्दर्भ में और जीवन की रणभूमि पर कही जा रही है और कहा जा रहा है — ख़ून बहाओ। ख़ून बहाओ, वो भी किसका? अपना ही ख़ून बहाओ। हम कहते हैं न, कि भाई का ख़ून तो मेरा ही ख़ून है, कि बाप कहता है बेटे का ख़ून मेरा ख़ून है। तो अर्जुन से कहा जा रहा है अपना ही ख़ून बहाओ। क्योंकि वो जितने हैं सामने वो भी सब तुम्हारा ही तो ख़ून हैं, और तुम्हारा अपना जो ख़ून बहेगा वो तो है ही तुम्हारा। ख़ून बहाने का दम नहीं, तो इंसान कहलाने की कोशिश क्यों?

एक ख़ून है जो शरीर से बहता है, वो बहाने की जब नौबत आये तो पीछे नहीं हटना चाहिए, 'तितिक्षस्व।' और एक ख़ून होता है जो मन के टूटने पर बहता है, उससे भी पीछे नहीं हटना चाहिए। धर्मयुद्ध है अगर, तो पीछे हटने का सवाल नहीं पैदा होता न! सारी गीता ही यही है।

अर्जुन कह रहे हैं, ‘मै नहीं लड़ सकता भाई, मुझे जाने दीजिए।‘ वो (कृष्ण) कह रहे हैं, "धर्मयुद्ध है, तुम पीछे हट नहीं सकते, जाने का क्या सवाल है? कहीं नहीं जाना है, लड़ो! चोट बहुत लगेगी। मर भी सकते हो। अपनों को मारना है। अपने लिए नहीं लड़ो। निष्काम युद्ध करो।"

तो ये सब जो तुम्हारे साथ हो रहा है ये शुभ ही है। और एक ख़ुशख़बरी बता दूँ कि अभी चलेगा बहुत समय तक। और ये और बता दूँ, कि जितना आगे बढ़ोगे, चोट उतनी गहरी पड़ेगी, और चोट तब तक पड़ती रहेगी जब तक चोट खाने वाला ही मिट न जाए। और यही लक्ष्य है पूरे आत्मज्ञान का। ये जो बैठा है न भीतर, जो बार-बार चोट खाता रहता है, "अरे! आइ गॉट हर्ट! (मैं चोटिल हो गया!) ओफेंडेड (अपमानित) हो गये।"

आपमें भी बहुत लोग होंगे जिन्हें बहुत जल्दी से चोट लग जाती होगी। मार्क्स (अंक) अच्छे नहीं आये, चोट लग गयी।

किसी ने कुछ बोल दिया, बुरा लग गया। ये सब होता है न? या बहुत जल्दी से खुश हो जाते होंगे। किसी ने तारीफ़ कर दी, प्रसन्न हो गये।

ये जो भीतर बैठा है जो चोट खाता है, इसको मिटाना ही आत्मज्ञान का लक्ष्य होता है। चोट लगनी ही बन्द हो जाए। ऐसे हो जाओ तुम कि चोट का पता ही न लगे। तुम कहो चोट जिसको लगती होगी, लगती होगी, जो मेरा काम है वो मैं करूँगा न? यही ज़िन्दगी है।

अगर ऐसे हो जिसको दुनिया चोट दे सकती है, अतीत चोट दे सकता है, परिस्थितियाँ चोट दे सकती हैं, तो ये सब मिलकर तुमको ग़ुलाम भी तो बनाएँगे न? अगर कोई तुमको घाव दे सकता है तो वो तुम्हारा मालिक बन जाएगा कि नहीं बन जाएगा? और अगर कोई तुम्हारी बहुत तारीफ़ कर सकता है, तुम्हें बहुत खुश कर सकता है तो वो भी तुम्हारा मालिक बन जाएगा। ग़ुलामी करनी हो तो बताओ।

चोट खाते चलो और झेलते चलो। जितना झेलोगे, उतना ज़्यादा चोट खाने वाले को ये सन्देश दे रहे हो कि मैं तेरी परवाह नहीं करता। तुझे चोट लग भी रही है तो भी मैं अपना काम करूँगा। और जितना तुम उसकी परवाह कम करोगे, उतना वो मिटता जाएगा। जितना वो मिटता जाएगा, उतना मौत पीछे हटती जाएगी और ज़िन्दगी शुरू होती जाएगी।

प्र२: प्रणाम आचार्य जी। मैं पूछना चाहता हूँ, जब आप ये बोलते हैं कि हमें चीज़ों को ड्रॉप करते जाना है, फिर आप ये भी बताते हैं कि बहुत सारे महान लोग भी, अगर स्वामी विवेकानंद जी के बारे में भी बोलें, तो वो भी एज़ अ ह्युमन बींग (बतौर इंसान), कुछ-न-कुछ, ऐसी चीज़ों से रह गये थे अटैच्ड (आसक्त), वैदर इट इज़ ईटिन्ग हैबिट ऑर समथिन्ग (चाहे भोजन के प्रलोभन से या किसी और चीज़ से)। तो हम अपनेआप को ऐसा बहाना दे देते हैं कि अगर बड़े लोग भी कुछ-न-कुछ इम्प्योरिटीज़ (अशुद्धियाँ) के साथ रह जाते हैं, तो हम जब ड्रॉप करने के प्रॉसेस (प्रक्रिया) में हैं, तो हम भी ऐसे टाल देते हैं कि हो सकता है कि आगे चलकर, ऐज (उम्र) के साथ, हम हो सकता है इसको ड्रॉप कर दें, और हम इस चीज़ को टालते जाते हैं। कुछ चीज़ें हम ड्राप करते हैं, कुछ अपने कन्वीनिऐन्स (सुविधा) के हिसाब से नहीं करते हैं, बाद में करना चाहते हैं। तो कैसे हम डिसाइड (निर्णय) करें कि ये राइट टाइम (सही समय) है?

आचार्य: जितना कर सकते हो करते चलो न। जितना कर सकते हो करते चलो। स्वामी विवेकानंद ने उदाहरण के लिए, कहा हुआ है, बिलकुल लिखित में है, कि मैं खाता हूँ माँस, लेकिन उसकी वजह ये है कि मैं एक ऐसे क्षेत्र से आता हूँ जहाँ माँस और मछली काफ़ी चलते हैं। तो भले ही मैं खाता हूँ लेकिन मैं स्वीकार करता हूँ कि ये बात ठीक नहीं है। और स्वामी जी तो चालीस वर्ष भी पूरे नहीं कर पाये थे, दस-बीस साल और जीते तो ज़्यादा सम्भावना यही है कि वो इस चीज़ को भी छोड़ देते।

देखो, एक झटके में सब कुछ नहीं कर पाओगे। हालाँकि अधिकतम जितना आगे बढ़ पाओ, बढ़ो। सवाल ये नहीं है कि वो फ़लानी चीज़ है, वो रह गयी है, या फ़लानी चीज़ से अभी मोह रह गया है, आसक्ति रह गयी है, आदत रह गयी है। सवाल ये है कि तुम जितना कर सकते हो उतना करा कि नहीं करा? सब कुछ करने के बाद भी कुछ रह जाएगा। पूर्ण तो हो नहीं गये ना?

परफैक्शन (पूर्णता) जैसी तो कोई बात नहीं है। कुछ रह जाएगा। उसकी बात नहीं करो। कहो उनका भी कुछ रह गया, मेरा भी कुछ रह गया तो ये बात ऐसी सी हो गयी कि एक के निन्यानवे प्रतिशत आये हों अंक, एक के चालीस प्रतिशत आये हों, चालीस वाला कहे, 'मुझमें और निन्यानवे वाले में कोई अन्तर थोड़े ही है; उसका भी कुछ रह गया, मेरा भी कुछ रह गया। कुछ तो उसका भी रह गया न, एक प्रतिशत तो उसका भी रह गया और कुछ मेरा भी रह गया। साठ प्रतिशत मेरा भी रह गया। तो मैं और वो बराबर हैं क्योंकि हम दोनों का ही कुछ-न-कुछ तो रह ही गया।' ये सब बेकार की बातें हैं। ये आपको पता है ये आंतरिक बेईमानी है।

हाँ, बिल्कुल ये सही बात है, कुछ न कुछ सबका रह जाता है। कौन कहता है कि कुछ नहीं रह जाता? बुद्ध जब सारी बातें समझ गये थे तो उसको बोलें — निर्वाण। लेकिन जब शरीर से ही मुक्त हो गये तो उसको बोले — महापरिनिर्वाण। ये इस बात की स्वीकृति थी कि कुछ तो बचा ही रह जाता है। जब तक देह है तब तक माया है, और परफैक्शन की उम्मीद करना बिलकुल बेवकूफ़ी है। बिलकुल बेवकूफ़ी है।

आप तो ये देखो कि आप अपनी क्षमता के अनुसार यथाशक्ति कितनी कोशिश कर पाये। आप ये मत पूछो कि मैं सीधे चाँद पर पहुँच गया कि नहीं पहुँच गया, या कि जाकर सूरज पर बैठ गया कि नहीं बैठ गया। आप ये पूछो कि मेरी उड़ान कितनी ऊँची थी। कोई जो उड़ा ही नहीं, वो उड़ने वालों को देखकर के कहे, 'देखो, ये उड़ा तो है पर अभी चाँद पर नहीं पहुँचा।' तो ये भद्दी बात है। और कुछ-न-कुछ तो रह ही जाएगा, और जो रह जाएगा उसी के कारण जीने का मज़ा है।

साहब अगर आपकी मंज़िल पूरी हो जाए, तो फिर आप जियोगे ही क्यों? ये साँस क्यों चल रही है? दिल क्यों दौड़ कर रहा है? क्योंकि अभी कुछ बचा हुआ है।

आप ट्रेन पर चढ़ते हो। आप ट्रेन पर तभी तक तो रहते हो न जब तक मंज़िल नहीं आ गयी। आप घोषणा कर दो कि मेरी तो मंज़िल आ गयी, मेरा तो इमैन्सिपेशन, ऐनलाइटनमेन्ट , मोक्ष, मुक्ति, सब हो गया है, तो आपको तो ट्रेन से लात मारकर उतार देना चाहिए। ट्रेन माने ज़िन्दगी। भाई, जिसकी मंज़िल आ गयी है उसको ट्रेन पर क्यों रहना है? तू तो उतर! तेरा तो स्टेशन आ गया। नीचे उतर।

तो जब तक जियोगे तब तक अभी करने को कुछ बचा रहेगा। और क्या करने को बचा रह जाएगा? वही, सफ़ाई करने को बची रहेगी। और भीतर जंगल बहुत पुराना है, उसको साफ़ करने में अनन्तता लगती ही लगती है। तुम्हारा काम है लगे रहना, लगे रहना। उपनिषद् कहते हैं "चरैवेति-चरैवेति", चलते रहो, चलते रहो। क्यों कहते हैं चलते रहो? क्योंकि पता है कि जहाँ पहुँचना है उस जगह का नाम है अनन्त। अनन्त तक कोई पहुँच सकता है क्या? चलने का कोई अन्त नहीं होना चाहिए, यही अनन्तता है। यही सत्य है। इसी का नाम मुक्ति है।

तो मुक्ति कोई एक बिन्दु नहीं होती, कोई एक स्टेशन नहीं होती। मुक्ति की ओर लगातार चलते रहने को ही मुक्ति बोलते हैं। इसीलिए विवेकानंद मुक्त हैं। इसलिए नहीं कि वो आख़िरी बिन्दु तक पहुँच गये थे, बल्कि इसलिए क्योंकि वो ईमानदारी से यथाशक्ति, यथासम्भव जीवनभर मुक्ति की ओर चलते रहे। ये जो चलते रहना है न, इसका नाम मुक्ति है। पहुँचने का नाम मुक्ति नहीं है। चलने का नाम मुक्ति है।

प्र२: सबसे पहले तो उत्तर के लिए धन्यवाद, लेकिन जब हम चीज़ों को ड्रॉप जो करना चाहते हैं, नहीं करते हैं, उसके साथ गिल्ट (ग्लानि भाव) चलता है फिर। तो क्या हम उस गिल्ट को लेकर चलें, या फिर और कोई तरीक़ा है कि ठीक है हम इसको बाद में देख लेंगे?

आचार्य: देखो, गिल्ट फ़ायदेमन्द तभी है जब असली हो। ये जो ग्लानि की भावना है न, अपराधबोध की भावना है, ये अच्छी भी हो सकती है। ये अच्छी तब है जब तुम्हें पता हो कि हो सकता था किया नहीं। हो सकता था किया नहीं। वो कहें कि मुझे इस बात की गिल्ट हो रही है कि मैं अभी सात फीट नहीं उछल पाया, तो जानते हो ये गिल्ट कृत्रिम रूप से, आर्टिफिशियली (कृत्रिम) रूप से क्यों पैदा कर रहा है? ताकि उसको तीन फीट भी न उछलना पड़े।

तो गिल्ट के दोनों परिणाम हो सकते हैं। गिल्ट कह सकती है कि तुम गिल्टी हो, गिल्टी हो माने दोषी हो, इसीलिए अपनेआप को बिलकुल बदल दो। ये गिल्ट का सकारात्मक परिणाम होता है, शुभ परिणाम होता है। ठीक है? और गिल्ट का दूसरा परिणाम होता है कि अरे! मैं तो महापापी हूँ। अब पाप एक कर ही दिया है, तो चलो और भी करते हैं। एक क़त्ल की सज़ा भी मौत है, सौ की सज़ा भी मौत है, तो अब करते ही करते हैं।

तो सब चीज़ें ठीक हो सकती हैं। अपराधबोध, गिल्ट , ये भी बिल्कुल ठीक हो सकता है, अगर तुम्हारी नीयत साफ़ हो। नीयत होनी चाहिए लगातार बेहतर बनने की, आगे बढ़ने की, सुधरने की, उठने की। नीयत ठीक है, तो बीच-बीच में ग़लतियाँ होती रहेंगी, कोई दिक्क़त नहीं हो गयी है। तुमने ठेका नहीं ले रखा है परफैक्शन का।

कोई, किसी ने पूछा था मुझसे आकर के, ये भी कर लिया, ये भी कर लिया, ये भी कर लिया — उनकी उम्र बहुत हो गयी थी — लेकिन अभी तक वो पूर्णता नहीं मिल रही है, वो अन्त नहीं मिल रहा है जिसकी तलाश है। मैंने कहा, पूर्ण

होना था तो पैदा काहे के लिए हुए थे? पैदा होने का मतलब ही है कि अपूर्ण ही रहोगे लगातार। उसी अपूर्णता में अपूर्णता से पूर्णता तक यात्रा करनी है। यात्रा अगर चलती रही तो समझ लो कि पूर्ण के प्रति तुम्हारा समर्पण पूरा है। पूर्ण भी जैसे यही देखता है कि भाई, इसने डेडिकेशन , समर्पण पूरा दिखाया है कि नहीं दिखाया है? वो ये नहीं देखता है कि तुम पहुँच पाये हो कि नहीं। वो ये देखता है कि तुमने पहुँचने का प्रयास पूरा करा है कि नहीं करा है।

ये पूरा होना चाहिए — प्र-यत्न। यत्न माने होता है कोशिश करना, और प्रयत्न का अर्थ होता है सही दिशा में कोशिश करना। यही होना चाहिए बस, और यही अंतिम बात है, प्रयत्न। वो देखा जाएगा। ये नहीं देखा जाएगा कि तुमने हासिल क्या कर लिया। तुम्हारी कोशिशों में दम होना चाहिए।

अहम् का सच से रिश्ता यही होता है, कि पास आ नहीं सकते और दूर जा नहीं सकते।

समझ रहे हो बात को?

तो, एक गाना है न फ़िल्मी — "मिलो न तुम तो हम घबराएँ, और मिलो तो आँख चुराएँ" (तालियाँ)

अरे भई, नहीं सुनना, तो जाने का विकल्प था, पर तुम्हें सुनना है वो मैं भी जानता हूँ। तुम्हारा-मेरा एक रिश्ता है वो मैं जानता हूँ। और जब सुनना ही है तो सामने आओ न! पास आओ, बैठें, तुम हमें देखो, हम तुम्हें देखें।

प्र३: नमस्ते, सर! बस मेरा ये सवाल था कि हम जो भी बचपन से पैदा होते हैं तो हमारा परसैप्शन (अनुभूति) ही बिल्ड (निर्मित) होता जाता है, ठीक? और मेरी पूरी जो रियैलिटी (वास्तविकता) है वो एक परसैप्शन होती है। आप जो मुझे समझा रहे हो, वो भी, आप भी उसी प्रौसैस (प्रक्रिया) से आये हो जिस प्रौसैस से मैं आया हूँ, तो आपका भी एक परसैप्शन ही हुआ, राइट ? और इस तरीक़े से हम सबका परसैप्शन ही है, और हम लोग सिर्फ़ परसैप्शन में ही कॉमनैलिटी (समानता) ढूँढ रहे हैं, तो इस, और परसैप्शन के अलावा मुझे और कुछ पता नहीं है, राइट ? जो भी मेरी इन्द्रियाँ देखेंगी, जिसके बेसिस (आधार) पर मैंने परसैप्शन बनाया है दिमाग में, वही चलेगा। तो, उसके अलावा और किस पर भरोसा करें? मतलब, यही तो है, और मुझे तो लगता है यही है ज़िंदगी।

आचार्य: बहुत बढ़िया। भई, आप किसी को कुछ समझाने लगो, हुआ है आपके साथ? तो वो कहेगा, सबके अपने-अपने थॉट्स (विचार) हैं। भई, तुम्हारा एक तरह का थॉट है, हमारा एक तरह का थॉट है। सुना है? भई तुम अपनी बात हमपर क्यों थोप रहे हो? तुम्हारा अपना मन है अपने विचार हैं, मेरा अपना है। वही अभी पूछा कि भई, सब कुछ परसैप्शन ही तो है न? नहीं, सब कुछ परसैप्शन नहीं होता। आप जो परसीव करते हो, आप उसको जान सकते हो। सेंसिंग (संवेदन) और नोइंग (जानने) में अन्तर होता है, सोचो।

सेंसिंग और नोइंग में अन्तर होता है। परसीविंग (देखने) और अंडरस्टैन्डिन्ग (जानने) में अन्तर होता है। जो व्यक्ति सिर्फ़ परसैप्शन पर चल रहा है, वो तो ये कह रहा है कि मैं इस कैमरे जैसा हूँ, ये कैमरा भी परसीव कर रहा है। आपकी आँखें भी देख रही हैं, ये कैमरा भी देख रहा है। आप मेरी बात रिकॉर्ड कर रहे हैं, वो भी रिकॉर्ड कर रहा है।

आपके पास कैमरे से कुछ अलग है न? वो चीज़ आपको इंसान बनाती है। जितनी ज़्यादा वो चीज़ आपके पास होगी, आप उतने मस्त इंसान बनोगे। जिसको आप परसैप्शन वगैरह बोलते हो, वो चीज़ मशीनों के पास भी हो सकती है। और एआइ के ज़माने में तो हर काम जो मेकैनिकल (यांत्रिक) है वो मशीन कर ही लेगी। ठीक है न? सॉफ्टवेयर में एआइ और हॉर्डवेयर में एक रोबो खड़ा कर दो, दोनों को मिला दो, तो इंसान ही ख़ड़ा हो गया, एक बहुत परसैप्टिव इंसान।

नहीं, परसैप्शन नहीं। परसैप्शन और अंडरस्टैन्डिंग में अन्तर होता है। मैं उदाहरण बता देता हूँ। मैं यहाँ से कुछ समझाना चाह रहा हूँ। समझाना चाह रहा हूँ न। आप यहाँ जितने लोग बैठे हो जवान लोग हो। सबके पास आँखें हैं। सबके पास कान हैं। और सब मुझसे एक ही दूरी पर बैठे हुए हो। लेकिन मैं जो कह रहा हूँ, वो बात समझ में किसी-किसी को ही आ रही है। तो बताओ क्या अन्तर हुआ फिर? सब आइआइटियन हो, सबने जेईई क्लीयर (उत्तीर्ण) किया होगा, या कोई और माध्यम होगा जिसके थ्रू (माध्यम से) यहाँ आये हुए हो। तो जो बात मैं कह रहा हूँ वो बात किसी-किसी को ही क्यों समझ में आ रही है? वो चीज़ है जो तुम्हारी इंसानियत का सबूत होती है — 'तुम समझ सकते हो कि नहीं?'

अंडरस्टैन्डिंग वो चीज़ है जो किसी कैमेरे के पास नहीं हो सकती, जो एआइ में कभी नहीं आएगी, किसी बहुत बड़े सुपरकम्पयूटर (अतिसंगणक) में भी कभी नहीं आ जानी है। समझ पाने की क्षमता, वो एक बहुत अलग बात है। न वो ट्राँसलेशन है, ना वो डिकोडिंग है, न वो इन्फॉरमेशन गैदरिंग (जानकारी एकत्रित करना) है, ना वो पैटर्न रैकॉगनिशन (प्रीतिरूप पहचान) है, वो बिल्कुल एक अलग क्वालिटी (गुण) होती है अंडरस्टैन्डिंग , बोध।

और वो जो बोध है, उसी को समझाने वालों ने कहा है कि वही तुम हो, वही तुम्हारा स्वभाव है। वही तुम हो। तो परसैप्शन ही सब कुछ नहीं होता। परसैप्शन से तो ओपिनीयन (राय) बनता है, मत। जो दूसरी चीज़ होती है समझना, वो बिल्कुल अलग बात होती है।

वो कब आती है? समझो।

परसैप्शन माने तुम्हारे विचार और भावनाएँ, और अंडरस्टैंडिंग आती है जब तुम इन विचार और भावनाओं को देख सको। कुछ होना, और उस चीज़ को देख पाना, ये दो बहुत अलग-अलग बात हैं। आपके विचार का एक प्रवाह है।

आप उसमें बह गये। कि भई, थॉट्स की एक स्ट्रीम है और आप उसमें साथ में बहे जा रहे हो। वो बिलकुल एक बात है। और ये बिलकुल देख पाना कि ये मेरे थॉट्स आ कहाँ से रहे हैं और ये क्या चीज़ हैं, ये बिल्कुल दूसरी बात है।

ये जो दूसरी बात है न, ये होती है बियॉन्ड परसैप्शन (देखने के पार)। ये होती है *रियलाइज़ेशन*। इसी को अंडरस्टैन्डिंग बोल रहा हूँ।

ये बात अभी कुछ-कुछ ही समझ में आ रही होगी। जितना इसपर विचार करोगे, ध्यान दोगे, उतनी और समझ में आएगी।

प्र३: सर, जैसे हमारी जो बॉडी (शरीर) की अंडरस्टैन्डिंग है वो ये है कि हमारे पास एक मशीन है, करेक्ट ? मशीन में हमारे पास ऐसा समझ लीजिए कि उसमें कुछ परसीव करने का मैथड (प्रक्रिया) है, जो कि हमारी इन्द्रियाँ हैं, सेन्स ऑर्गैन्स हैं, उसके आधार पर हम इन्फॉरमेशन कलेक्ट करते हैं और वो इन्फॉरमेशन का एक रीप्रेज़ैन्टेशन (प्रस्तुतीकरण) बनाते हैं दिमाग में। करैक्ट ? और जो रीप्रेज़ैन्टेशन है, वही हमारी दुनिया होती है। इस सेंन्स में मैं कह रहा हूँ।

आचार्य: जैसे ही तुम इस बात को जान जाते हो वैसे ही अपनी उस दुनिया से आसक्ति कम हो जाती है कि नहीं?

प्र३: सर, कम हुई है।

आचार्य: तो बस यही अंडरस्टैन्डिंग है।

प्र३: लेकिन सर, फ़िज़िक्स (भौतिकी) के सेन्स में, मतलब मैं इसको इसमें (आध्यात्मिकता में) नहीं कह रहा हूँ, मैं फ़िज़िक्स के सेन्स में कह रहा हूँ। कि जैसे, हमारा एक जो ऑबजेक्ट (वस्तु) है आब्ज़रवेबल (अवलोकनीय) जिसकी मेरे पास कोई प्रॉपर्टीज़ (गुण) नहीं है, प्रॉपर्टीलैस (गुणरहित) है, और मैं एक ऑबजेक्ट हूँ, जब मैं उसके साथ इंटरएक्ट करता हूँ तो उसका एक प्रोजेक्शन (प्रक्षेपण) मैं बनाता हूँ। करेक्ट ? और...

आचार्य: और तुम ये सब जान सकते हो न, कि ये हो रहा है?

प्र३: हाँ, ये हो रहा है।

आचार्य: मशीन ये नहीं जान सकती। मशीन अपने इंटरनल प्रॉसेस से इसको कभी जान नहीं सकती। दूसरी बात, मशीन कभी कह नहीं सकती कि मुझे अपने इंटरनल प्रॉसेस (अंदरूनी प्रक्रिया) से अलग होकर ख़ड़े होना है।

प्र३: ओके (ठीक है)। तो ये है *अंडरस्टैन्डिंग*।

आचार्य: यही अंडरस्टैन्डिंग है। इसी को ही लिबरेशन (मुक्ति) बोलते हैं।

प्र३: ओके , सर।

आचार्य: स्टैंडिन्ग नैक्सट टू योरसेल्फ़ (स्वयं के बग़ल में खड़े होना)। स्टैडिन्ग एट अ डिस्टैंस टू योरसेल्फ़ (स्वयं से दूरी बनाकर खड़े होना)। उसी को अनासक्ति और डिटैचमैंट भी बोलते हैं। वो कभी मशीन में नहीं हो सकते।

✿ ✿ ✿ ✿